भागवत-पुराण में भक्ति

(डी० फिल् उपाधि हेतु शोध प्रबन्ध)
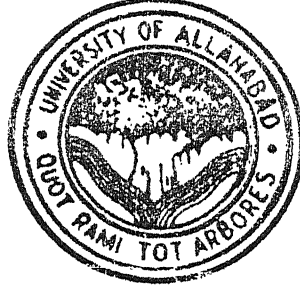
निर्देशक,
डॉ० हर्ष कुमार
प्रवक्ता (प्राचीन इतिहास विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद ।

अनुसन्धात्री,
अंशु श्रीवास्तव
एम०ए०(प्राचीन इतिहास)
एल-एल०बी०, बी०एड०

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद ।

मई - २००२

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

:: समर्पण ::

स्व० दादी माँ

एवं

पूज्यनीय

मम्मी-पापा

जिनकी

छत्रछाया में

पली-बढ़ी,

को

सादर

समर्पित !

आभार-ज्ञापन

डी० फिल की उपाधि के लिए श्रीमद्भागवत जैसे पावन ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करते हुए आज मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हो रही है, इसका कारण यह नहीं है कि मेरा शोध प्रबन्ध पूरा हो गया, अपितु जीवन ही कृतकृत्य हो गया ।

पुराणों में श्रीमद्भागवत का सर्वोपरि स्थान है । भाषा, भाव तथा भक्ति की दृष्टि से इसका सर्वाधिक महत्व है । पूर्व जन्मार्जित सुकर्मों के फलस्वरूप हृदय में विद्यमान भगवद्भक्ति में भागवत के अध्ययन से जो दृढ़ता उत्पन्न हुई है, उसे कथमपि नकारा नहीं जा सकता ।

भगवद्भक्ति की ओर बचपन से ही मेरा आकर्षण रहा है, अतः प्रस्तुत विषय तो मेरी अभिरूचि के अनुकूल ही था, पर भाषा का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण मेरा मन संकुचित था, किन्तु "भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्धया न च टीकया" का विचार कर भगवत्प्रेरणा से कार्य करने का साहस जुटा लिया ।

मै सर्वप्रथम् लीला पुरूषोत्तम भगवान को मनसा-वाचा-कर्मणा नमन करती हूँ, जिन्होंने मुझ जैसे अल्पज्ञ एवं संसार निरतमति को श्रीमद्भागवत जैसे पावन ग्रन्थ का सान्निध्य प्रदान किया ।

अपने परमादरणीय गुरू डॉ० हर्ष कुमार जी को मैं सर्वात्मभावेन सादर प्रणाम करती हूँ, जिन्होंने निरन्तर मेरी सहायता की । वस्तुतः उन्हीं के सम्बल से मैंने अपनी यह सारस्वत यात्रा कच्छपगति से पूर्ण की है, उनका वात्सल्यमय स्नेह मुझे सदैव मिलता रहा है । विभिन्न विषम परिस्थितियों से परिगत होने पर मुझे संघर्ष करने, ऊपर उठने एवं उन पर विजय प्राप्त करने के लिए सदा सदुत्साह तथा हर सम्भव सहायता प्रदान किया है । मात्र चंद शब्दों से कृतज्ञता ज्ञापित करना मुझे कथमपि सन्तोष प्रद नहीं प्रतीत हो रहा है, अतः मैं उन्हें पुनः मौन नमन करती हूँ ।

मैं विभागाध्यक्ष प्रो० ओम प्रकाश यादव तथा पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० वी०डी० मिश्र जी के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूँ । अद्यावधि शोध सम्बद्ध सम्पूर्ण कार्यों में आपका अत्यधिक सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहा है।

मैं विभाग के रीडर डॉ० हरि नारायण दुबे जी के प्रति अत्यन्त श्रद्धावनत हूँ। आप द्वारा प्रदत्त परामर्श, हार्दिक सहयोग तथा मानसिक सम्बल के सहारे ही यह शोधकार्य अन्तिम चरण तक पहुँच सका है ।

मुझे इस अध्ययन में डॉ० आर०पी० त्रिपाठी, डॉ० जे०एन० पाण्डेय, डॉ० ए०पी० ओझा, डॉ० ओ०पी० श्रीवास्तव, डॉ० जे०एन० पाल, डॉ० जी०के० राय, डॉ० रंजना वाजपेयी, डॉ० यू०सी० चट्टोपाध्याय, डॉ० पुष्पा तिवारी, डॉ० अनामिका राय, डॉ० डी०के० शुक्ला, डॉ० एस०के० राय, डॉ० प्रकाश सिन्हा, डॉ० सी०डी० पाण्डेय, डॉ० डी०पी० दूबे, डॉ० सुनीति पाण्डेय एवं डॉ० सुधा कुमार आदि विद्वान गुरूओं का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है । इन गुरूओं के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ । साथ ही विशेष रूप से इलाहाबाद संग्रहालय के कीपर डॉ० एस०के० शर्मा तथा जगत तारन गर्ल्स डिग्री कालेज की प्रवक्ता डॉ० कमला दुबे जिनसे इस कार्य में मुझे बराबर प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन मिलता रहा, को किन शब्दों में अपना आभार प्रकट करूँ, क्योंकि कहीं-कहीं शब्द, हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः असमर्थ हो जाते हैं । मैं संस्कृत विभाग के डॉ० हरिशंकर मिश्र को भी विस्मृत नहीं कर सकती क्योंकि शोधकार्य में उन्होंने मुझे अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है ।

अन्ततः मुझे इन समस्त महानुभावों की याद हठात् आ जाती है, जिनकी शुभकामनाओं, प्रेरणा और सहयोग से मेरा यह शोध कार्य पूर्ण हुआ । पूज्य पापा श्री आर०एस० लाल श्रीवास्तव (प्रवक्ता अर्थशास्त्र) और मम्मी श्रीमती पुष्पा श्रीवास्तव की मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन ने मुझे परिश्रम में लगाए रखकर मेरे निराश मन

को आशान्वित रखा । मम्मी-पापा की महानता एवं ममत्वपूर्ण स्नेह से शोधकाल में जो सत्प्रेरणा, सत्साहस एवं सहानुभूति पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन अपर्याप्त होगा, उनका ऋण जन्म-जन्मान्तर तक रहेगा। मैं उसे उतारना भी नहीं चाहती, क्योंकि उससे बोझिल रहकर जीने में ही मैं सुखानुभूति अनुभव करूँगी । मम्मी-पापा की महती प्रेरणा ही मेरे शोध कार्य में आदिसे अन्त तक छायी रही, और यह प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उन्हीं के आशीर्वाद के फलस्वरूप प्रेषित हो रहा है ।

मैं अपने अनुजों एवं अनुज वधू श्रीमती गुंजन के स्नेह एवं सहयोग के प्रति कोटिशः बार कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ । अपनी ओर से कुछ कहते हुए मुझे अपने अनुज अजित, अखिल तथा अमित श्रीवास्तव का नाम याद आ जाता है,। इन नामों के साथ मेरा रक्त सम्बन्ध है, जो किसी प्रकार की औपचारिकता की अपेक्षा नहीं करता । उनके उदार मन से उद्भूत प्रेरणाएँ हर आड़े वक्त मेरे काम आई है, अतः मैं धन्यवाद जैसी कोई बात कहकर उस सम्बन्ध को औपचारिक बनाने की धृष्टता नहीं कर सकती ।

मैं अपनी समस्त भावनाएँ अपने पतिदेव डॉ० शरद कुमार श्रीवास्तव (प्रवक्ता यू०पी० कालेज, वाराणसी) के चरणों में अर्पित करती हूँ, जिनकी अनवरत अनुकम्पा से ही मेरे लेखन कार्य की समाप्ति हो सकी है, उन्हीं के सहयोग से मेरा धैर्य भी बंधा रहा और कार्य में निराशा की झलक नहीं आने पाई । उनके प्रति किसी भी प्रकार का आभार व्यक्त करना उनके लिए किए गए सहयोग को भुलाना है ।

मैं अपने पूज्य सास-श्वसुर तथा देवर शैलेन्द्र कुमार श्रीवास्तव के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी सहानुभूति सदैव मुझे मिलती रही तथा उनके उस भावनाओं की कद्र करती हूँ, जिनके अनुसार वे चाहते थे कि मेरा शोध-प्रबन्ध शीघ्रातिशीघ्र पूरा हो जाय ।

परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने निरन्तर मेरी सहायता की ।

मुझे अपने इस कार्य में कतिपय अन्य मित्रों तथा शुभचिंतकों का सहयोग प्राप्त होता रहा है । ताहिरा परवीन, अर्चना दीदी "प्रवक्ता" (सी०एम०पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद तथा निरूपमा दीदी "अध्यापिका आर्य कन्या इण्टर कालेज, मीरजापुर) आदि मित्रों की स्नेहिल भावनाएँ मेरे लिए एक महान सम्बल रहीं है । मैं उन सभी की हृदय से आभारी हूँ ।

मैं अपने शुभचिन्तक तथा इलाहाबाद विश्व विद्यालय के कर्मचारी देवी प्रसाद गुप्ता, सत्येन्द्र सिंह तथा अनमोल अरोरा के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने शोध कार्य की लम्बी अवधि में भी मेरे मनोबल को ऊँचा रखने में निरन्तर अपना सहयोग प्रदान किया ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जे०एन० झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद म्यूजियम के पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विभागीय पुस्तकालय, भारती भवन प्रयाग, बी०एच०यू० के पुस्तकालय से पुस्तकों की पर्याप्त सहायता तथा अध्ययन सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ प्राप्त होती रही हैं । मैं उन सभी पुस्तकालयों के अधिकारियों के प्रति आभारी हूँ ।

समस्त मनीषी विद्वानों और सुधिजनों को भी मैं अभिवादन करती हूँ, जिनकी रचनाओं, विचारों और आलोचनाओं से मैं अत्यधिक लाभान्वित हुई हूँ । अन्त में मैं अपने आत्मीयों के लिए किन शब्दों में अपना आदर, स्नेह एवं अपने मन की वह कोमल भावनाएँ व्यक्त करूँ, यह समझ नहीं पा रही हूँ, जिनकी अपरिमित चिन्ता एवं अथक सहयोग से यह कार्य इस स्थिति तक पहुँच सका है ।

टंकण के लिए "दी बनारस कम्प्यूटर इन्स्टीट्यूट जवाहर मार्केट दुकान नं. १२ व १३, इंगलिशिया लाईन कैण्ट, वाराणसी" को अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिनके प्रयास से थोड़े समय में ही शोध प्रबन्ध का टंकण कार्य सम्पन्न हो सका ।

अंशु श्रीवास्तव

(अंशु श्रीवास्तव)

:: भूमिका ::

वैदिक वाङ्मय के अनन्तर भारतीय लोकमानस को जिस साहित्य ने सर्वाधिक प्रभावित किया है – वह है पुराण–साहित्य । वस्तुतः पुराण साहित्य भारतीय संस्कृति, विचारधारा एवं सभ्यता के विश्वकोष हैं । वर्तमान सन्दर्भो में भी पुराणोंपयोगिता को कथमपि नकारा नहीं जा सकता । हाँ, उनके अनुशीलन के लिए सम्यक् अनुसंधित्सा एवं विवेकपूर्ण विवेचना की आवश्यकता है ।

सम्पूर्ण पुराण वाङ्मय में श्रीमद्भागवत मुकुटमणि माना जाता है । निर्विवाद रूपेण यह अनल्प महिमाशाली दिव्य महापुराण के रूप में विख्यात है । प्रायः सभी वैष्णव भक्ताचार्यो ने स्व–स्व सिद्धांत प्रतिपादन में प्रस्तुत महापुराण को आधार रूप में ग्रहण किया है । श्री रामानुजाचार्य के मत में भागवत को ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) की व्याख्या के रूप में स्वीकार किया गया है ।

वेन्दान्तार्थोपनृहंणात्मकं श्रीमद्भागवताख्यपुराणम् ————''[1]

द्वैताद्वैत मतावलम्बी श्रीशुकदेवाचार्य ने भी "सिद्धांत प्रदीप" में भागवत को वेदान्त का उपवृहंण माना है । द्वैतवादी आचार्य माहब "भागवत तात्पर्य निर्णय" में प्रस्तुत ग्रन्थ को ब्रह्मसूत्र, महाभारत, गायत्री तथा वेद से सम्बद्ध मानते हैं । प्रमाण स्वरूप उन्होंने गरूण पुराण के निम्नांकित श्लोक उद्घृत किए हैं –

"अर्थोड्यं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णय : ।

गायत्री भाव्यरूपोऽसौ वेदान्त परिवृंहित : ।

पुराणानां सार रूपः साक्षाद भगवतोदित : ।[2]

आचार्य वल्लभ ने उपनिषद् गीता एवं ब्रह्मसूत्र (प्रस्थानत्रयी) के समकक्ष रखते हुए इसे "समाधिभाषा व्यासस्य" कहकर चतुर्थ प्रस्थान की मान्यता प्रदान की है । उनके मतानुसार यह भागवत गीता का विस्तार है ।

1– बीर राधावाचार्य कृत– श्रीमद्भागवत की टीका – उपोदघात पृष्ठ–7
2– भागवत तात्पर्य निर्णय – पृष्ठ 789

गीता संक्षेप वस्तस्थावक्ता स्वयमभूद्धरि : ।
तद् विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णय पूर्वकम् ।।
व्यासः समाधिना सर्वमाहकृष्णोक्त मदिता :।'' [1]

उनके पुष्टिमार्ग का मूलाधार प्रस्तुत महाग्रंथ ही है । गौड़ीय सम्प्रदाय में भी भागवत की बहुत अधिक प्रतिष्ठा है । चैतन्य महाप्रभु इसे वेदान्त का अकृत्रिम भाष्य मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अन्य आचार्यो के सदृश किसी भाष्य की रचना नहीं की । उनके मत में स्वतः सिद्ध भाष्यभूत श्री मद्भागवत के समक्ष अन्यान्य अर्वाचीन भाष्य कपोल–कल्पित मात्र है ।'' [2]

आचार्य शंकर के मायावाद के खण्डनार्थ वैष्णव भक्ताचार्यो ने श्रीमद्भागवत को एक शसक्त शास्त्र के रूप में ग्रहण किया, जिसके बल पर उन्होंने मायावाद को खण्डित कर निज–निज सम्प्रदायों की स्थापना की तथा भगवद्भक्ति का प्रचार किया।

अनेक देशी–विदेशी भाषाओं में अनूदित होना भागवत की अप्रतिम, लोकप्रतिम लोकप्रियता एवं व्यापक प्रभाव का प्रमाण है । बंग्ला, असमिया, उड़िया, गुजराती, सिन्धी, मराठी, तेलगू, तमिल, कन्नड़, मलयालम, उर्दू, कश्मीरी आदि स्वदेशी भाषाओं तथा अंग्रेजी, फ्रेंच, फारसी आदि विदेशी भाषाओं में इसके अनुवाद होते आ रहे हैं । हिन्दी में तो इसके गद्यपद्यानुवादों की संख्या शताधिक है । मध्यकाल में यह रामायण और महाभारत से भी अधिक प्रभावशाली ग्रंथ रहा है । भक्ति की सभी धाराओं में इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है । गुरू–माहात्म्य, नाम–महिमा, सत्संग, वैराग्यादि ऐसे सार्वभौम एवं सामान्य तत्व हैं जो सगुण निगुर्ण दोनों भक्ति धाराओं में व्याप्त हैं। इन तत्वों का प्रकाशन भागवत में सदाशयता के साथ हुआ है । निगुर्ण भक्ति धारा की प्रेममार्गी शाखा के प्रतिनिधि सूफी संत कवि जायसी ने भागवत पुराण का अध्ययन एवं श्रवण किया था । उनका कथन है –

1– तत्वद्वीप निबन्ध – पृ0 2
2– तत्वसन्दर्भ – आचार्य जीव गोस्वामी

3– तत्व संदर्भ – आचार्य जीव गोस्वामी

पढ़ेऊँ सुनेऊँ भागवत पुराना । पायेऊँ प्रेम पंथ संथाना ।

तुर्की, अरबी, फारसी सब देखेऊ अवगाहि ।

अइसेन प्रेम कहानी, दूसर जग महँ नाहि ।

कृष्ण भक्ति शाखा का उपजीव्य तो। यह है ही, राम भक्ति शाखा पर भी इसका प्रभाव अन्य पुराणों की अपेक्षा कहीं अधिक है ।

भागवत में भक्ति की चरम परिणति हुई है । वैसे तो गीता में भी भक्ति योग का वर्णन हुआ है, किन्तु वहाँ प्रधानता कर्म की ही है भाव की नहीं । दूसरे गीता में माधुर्य भक्ति का उल्लेख मात्र है । माधुर्य भक्ति का एक मात्र ग्रन्थ भागवत महापुराण ही है । प्रस्तुत ग्रन्थरत्न ने मोक्ष से भी ऊपर भक्ति को परमपुरूषार्थ उद्घोषित किया तथा सर्वप्रकारेण उसे ही साध्य माना । यही सर्वोच्च भाव है, भक्तजन इसे प्राप्त करना अपना परम उद्देश्य मानते हैं ।

ऊपर कहा जा चुका है कि भागवत, पुराणों में सर्वाधिक प्रभावशाली एवं विश्रुत है । वह भक्ति का उत्तम आकार ग्रन्थ भी है । प्रायः सभी भक्त किसी न किसी रूप में उससे प्रभावित हुए हैं ।

व्यवस्था की दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन को पाँच शीर्षकों में विभाजित किया गया है । सर्व प्रथम "भक्ति का अर्थ प्रकार उद्देश्य और महत्व" के विषय में बताया गया है । प्रस्तुत अध्याय में नारद भक्ति सूत्र तथा शाण्डिल्य भक्तिसूत्र से भक्ति की परिभाषा और अर्थ बताते हुए अन्य परिभाषाओं से उसकी तुलना और साम्यता स्थापित की गई है । एतत्पश्चात् द्वितीय अध्याय में "गुप्त युग तक भक्ति के विकास" के विषय में विस्तार से बताया गया है, यहाँ वेद, आरण्यक, उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता, नारद पाँचरात्र, जैन तथा बौद्ध में भक्ति का विकास क्रमशः किस प्रकार परिलक्षित होता है, यह देखने को मिलता है । ऋग्वेद से भक्ति का उद्भव होता है और वह

निरन्तर विकास की दिशा में अग्रसर होता हुआ पुराणों में पल्लवति होता हुआ दिखाई पड़ता है ।

शोध प्रबन्ध के तीसरी अध्याय में "प्रारम्भिक पुराणों में भक्ति के स्वरूप" को दिखाया गया है । इन प्रारम्भिक पुराणों में विष्णु, मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों को लिया गया है । इन पुराणों में भक्ति की धारा किस प्रकार गति को प्राप्त होती है, देखने को मिलता है । यहाँ भक्ति के अध्ययन का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

महाकवि व्यास की भक्ति दर्शन सम्बन्धी मान्यताएँ भी भागवत सम्मत है, यह तथ्य हमें शोध–प्रबन्ध के चौथे अध्याय "भागवत पुराण में भक्ति" सम्बन्धी अध्याय की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है ।

भागवत में भक्ति तत्व का सर्वाधिक प्रकाशन हुआ है । इससे पूर्व कदाचित ही किसी अन्य ग्रन्थ में भक्ति की इतनी व्यापकता, सार्वभौमिकता, प्रभाविष्णुता एवं मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है, मेरे विचार से तो शायद नहीं ही किया गया है । भक्ति का मूल भागवत ही माना जाता है । महाकवि व्यास जी कृष्ण भक्ति के चित्रण में भगवतानुप्रेरित है । भागवतकार की दृष्टि में भगवान भक्त हितार्थ लीला करने के लिए ही अवतरित होते हैं ।

भागवत परितोषमूलक रचना है । यह ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का समुच्चय है। भागवत मृत्यु को मंगलमय् बनाने वाला महान ग्रन्थ है । महाभारत जैसी महानकृति की रचना के अनन्तर भी महामति व्यास का मानस अपूर्ण और अतृप्त ही रह जाता, वे कहते हैं :–

तथापि नात्मा परितुष्यते में ।" अन्ततः देवर्षि नारद के उपदेश से वे भगवच्चरित (भागवत) की रचना करते हैं, तथा उन्हें पूर्ण परितोष मिलता है । यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि सदा–सर्वदा प्राणि कल्याण में संलग्न महात्माओं का "आत्म परितोष" एवं स्वान्तः सुख क्या हो सकता है ।

शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में भक्ति के वैदिक स्वरूप से लेकर पौराणिक स्वरूप तक के मुख्य अवयवों का संक्षिप्त परिचय देते हुए भक्ति के पूर्व मध्यकालीन स्वरूप की पृष्ठभूमि में गतिशील कतिपय राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक आधारों की विवेचना की गई है ।

प्रस्तुत अध्ययन में पुराणों में भक्ति की व्यापकता एवं सर्वांगीण प्रभावोत्पादकता के विवेचन का यथामति प्रयास किया गया है । किन्तु यदि कोई तथ्य विवेचना से वंचित रह गया हो तो इसे मेरी बुद्धि विवेक सीमा का परिणाम मानते हुए साधुजन मुझे क्षमा प्रदान करने की कृपा करेंगे । वैसे इस सम्पूर्ण अध्ययन में भगवद्भक्ति ही प्रदान रही है और उसी के सहारे यह इस रूप में प्रस्तुत भी हो सका है ।

अनुक्रमणिका

- अनुक्रमणिका -

अध्याय : प्रथम

भक्ति का अर्थ

- भक्ति के भेद और प्रकार
- भक्ति का सिद्धांत
- भक्ति का उद्देश्य

भक्ति का अर्थ

भक्ति का सम्बन्ध उस अजर अमर अनादि अनंत शुद्ध पवित्र सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान परिपूर्ण ब्रह्म से है, जो काल और माया के हाथ से परे है, और उससे सम्बन्ध जोड़ना भक्ति कहलाता है । दूसरे शब्दों में ईश्वर के अगाध प्रेम का नाम भक्ति है । रामानुजाचार्य के अनुसार भक्ति शब्द सेवा का बोधक है। भगवत्स्वरूप में अत्यन्त उत्साहपूर्वक सेवा भाव का उदय होने पर प्रेम की जो अटूट तीक्ष्ण धारा बहने लगती है, उसका नाम भक्ति है ।[1] भक्ति का प्रारम्भ अपने इष्ट के प्रति आदर से होता है, आदर का विकास श्रद्धा में होता है और श्रद्धा समर्पण में परिणत होकर भक्तियोग को परिपूर्ण करती है । भक्ति का अर्थ ही है अनुराग ।[2] और अनुराग तथा भक्ति से ही भगवान को वश में किया जा सकता है।

भक्ति शब्द संस्कृत की भज–सेवायाम् धातु से पणिनीय सूत्र स्त्रियाँक्तिन के अनुसार क्तिन प्रत्यय के योग से बना है – जिसका अर्थ है सेवा करना ।

क्ति का आशय है प्रेम । इस प्रकार भक्ति में भज (सेवा) तथा क्ति (प्रेम) का समन्वय है और यह शब्द धातु तथ प्रत्यय के सम्मिलित योग से अपने अर्थ को ध्वनित करता है । नारद भक्ति सूत्र में कहा गया है कि ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है ।[3] शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में यह बताया गया है कि ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है ।[4] श्रीमद्भागवत में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार से दी गई है कि ''मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति ऐसी हो, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो,

---

१. *रामानुजाचार्य – भक्ति दर्शन – पृ० १३५*

२. *हरिभाऊ उपाध्याय – भागवत धर्म – पृ० ३०२*

३. *सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा (२) नारद भक्ति सूत्र*

४. *सा परानुरक्तिरीश्वरे (२) शाण्डिल्य भक्ति सूत्र*

और जो नित्य निरंतर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है ।[१] श्रीमदम्भागवत में आगे फिर कहा गया है – उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम रूप से भगवान में लग जाए ।[२]

नारद पांचरात्र के अनुसार प्रेम परिप्लुत मन का हरि के प्रति स्वार्थ रहित होकर सदा प्रवाहित होते रहना ही भक्ति है ।[३] भक्ति रसायन में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है – "मन की उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं जो आध्यात्मिक साधना से द्रवीभूत होकर ईश्वर की ओर प्रवाहित होती है ।[४] श्रीमध्वाचार्य का मत है कि भगवान में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ और सतत् स्नेह ही भक्ति है । इससे अधिक मुक्ति का कोई दूसरा सरल उपाय नहीं है । यह परमप्रेम जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न होता है और सर्वदा विद्यमान रहता है । भक्ति कहा जाता है ।[५] गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् का कथन है – "मन को भगवान में पूर्णरूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किए बिना निरन्तर कृष्ण का प्रेम पूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है ।[६] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।[७]

---

१. *स वै पुसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे । अहैतुक्य प्रतिहता यथाऽऽत्या संप्रसीदति (भागवत १–२–६)*

२. *भागवत स्कंध ३–अध्याय २५ श्लोक ३२–३३*

३. *मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता । अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवंशकरी । नारदपांचरात्र*

४. *द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतांगता ।*
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते । भक्ति रसायन–१–३

५. *माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः ।*
स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्नचान्यथा ।
ज्ञानपूर्वः परः स्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते । तात्पर्य निर्णय १, ८६, १०७

६. *भक्तिरस्य भजनं, एतादिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनः कल्पनम् ।*
(गोपालपूर्वतापनी उपनिषद–२–१)

७. *मध्यकालीन धर्म साधना – डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी । पृष्ठ – १४२*

भक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हुए विवेकानन्द ने लिखा है कि कपट छोड़कर ईश्वर की खोज का नाम भक्ति है ।[१] क्षणिक प्रेम से इसका आरम्भ होता है, मध्यम और अन्त भी प्रेम ही है । जीव इसे पाकर सब प्राणियों से प्रेम करने लगता है, घृणाशून्य हो जाता है, और सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाता है । नारद ने कहा है कि भक्ति कर्म ज्ञान और योग से भी अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि वे तो सिर्फ साधन है, पर भक्ति स्वंय ही साध्य और साधन है ।[२]

भक्ति ईश्वर तक पहुँचने का बड़ा सहज और स्वाभाविक मार्ग है, किन्तु यदि भक्ति सच्ची और उच्च श्रेणी की न होकर निम्न श्रेणी की हुई तो भक्त में प्रायः धार्मिक हठ आ जाता है । इष्ट–निष्ठा के बिना सच्ची भक्ति की उत्पत्ति असम्भव है ।[३] रामानन्द जी के अनुसार – विद्वदर्य परमभक्ति रस–रसिक महर्षियों ने अनन्य भाव से तत्परता के साथ सर्वदा पुनः–पुनः छल, कपट, प्रपंच आदि से रहित परमात्मा की ही सेवा को भक्ति कहा है ।[४]

नारद पाँचरात्र में सर्वोपाधिविर्निमुक्त भगवान हृषीकेश की सेवा को ही भक्ति कहा गया है ।[५]

आगे चलकर रामानन्द स्वामी जी ने भक्ति की और भी स्पष्ट व्याख्या की है। वे कहते हैं कि विविक आदि से जिसकी उत्पत्ति होती है, यमादि जिसके आठ अंग है, तैलधारा के समान

१– *विवेकानन्द– भक्ति*

२– *सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽत्यधिकतरां। (ना०भ० अनु० ५ सूत्र २५)*

३– *विवेकानन्द – भक्ति*

४– *रामानंद – भक्ति की व्याख्या*

५– *सर्वोपाधिविनिर्मुक्त तत्वपरत्वेन निर्मलम्।*

हृषीकेश सेवनम् भक्तिरूच्यते । । नारद पाँचरात्र।

निरन्तर स्मृति सन्तान रूपा भगवान में जो अनुराग है, वही भक्ति हैं।[१] नारद भक्ति सूत्र में इसी मत का पोषण किया गया है । भक्ति को प्रेमस्वरूपा कहने के साथ ही लेखक ने उसे अमृत स्वरूपा भी कहा है, जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, जिसकी प्राप्ति से व्यक्ति के मन में और कोई कामना शेष नहीं रहती, न उसे किसी प्रकार का शोक रहता है, वह न किसी से द्वेष करता है और न किसी से अनुराग । वह तो भक्ति को पाकर उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है । आत्माराम हो जाता है । यह भक्ति कामना युक्त नहीं है, क्योंकि यह निरोधस्वरूपा है ।[२]

श्री मधुसूदन सरस्वती का मत है कि भगवद्भाव से द्रवित हुए चित्त की, भगवान सर्वेश्वर के प्रति, अविच्छिन्न वृत्ति को "भक्ति" कहते हैं । अर्थात भगवद्भाव के श्रवण से प्रवाहित होने वाली भगवद् विषयिणी धारा वाहिक वृत्ति को भक्ति कहा जाता है।[३] देवी भागवत में स्वंय भगवान कहते है कि मेरी (प्रेम पूर्वक) सेवारूपी भक्ति से अधिक श्रेष्ठ कहीं कुछ नहीं है ।[४] भगवान द्वारा बताए गए तीन साधनों द्वारा व्यक्ति कल्याण प्राप्त कर सकता है । ये साधन है — १— कर्म २— भक्ति और ३— ज्ञान ।

इनमें भक्ति श्रेष्ठ है । इस सम्बन्ध में श्री कविराज कृष्णदास कर्म और ज्ञान की तुलना घास—फूस से करते हुए कहते हैं कि इस घास—फूस का हृदय से सर्वथा उन्मूलन कर देना चाहिए, जिससे कि भक्ति वल्लरी के लहराने में कभी कोई बाधा न पड़े । वैसे भक्ति और ज्ञान ये दोनों ही साधन हमें एक ही लक्ष्य अर्थात मोक्ष की ओर ले जाते हैं । किन्तु दोनों की पहुँच के ढंग भिन्न है । ज्ञान मार्ग में ब्रह्म के, परमात्मा या निर्गुण के रूप में केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही मोक्ष

१— *रामानन्द स्वामी — भक्ति की व्याख्या*

२— *सात्वस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा, अमृतस्वरूपां च, यल्लब्ध्वापुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति, यत्प्राप्य न किंचचिद्वांछति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवित यज्ज्ञात्वामतो भवति स्तब्धोभवति, आत्मारामो भवति, सा न कामयमाना निरोधस्वरूपत्वात्। (नारदभक्ति सूत्र)*

३— *द्रुतस्य भगवतद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।*
सर्वेशे मनसो वृत्तिभक्तिरित्यभिधीयते। भक्ति रसायनम् १।।३

४— *मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति कर्हिचित्। (देवी भागवत्)*

की प्राप्ति नहीं होती, उसके लिए ब्राह्मी स्थिति अत्यन्त आवश्यक है ।[१] यह लम्बे प्रयोग एवं प्रयास से ही सम्भव है।[२] ज्ञान मार्ग में व्यक्ति जो कुछ करता है, वह ब्रह्मार्पण होता है ।[३]

भक्ति मार्ग में भक्त ईश्वर के प्रसाद के लिए आत्म–समर्पण कर देता है और वह जो कुछ करता है, वह अपने आराध्य देव को समर्पित कर देता है । (यह सगुण एवं व्यक्त उपासना है)[४] गीता के नवें अध्याय में भक्तिमार्ग के विषय में कहा गया है कि यह विधाओं में प्रमुख है, रहस्यों (गोपनीयों) में प्रमुख है, यह अति पवित्र है, प्रत्यक्ष फलदायक है, धर्मयुक्त है, अविनाशी है तथा बड़ा सुगम है ।[५] गीता के अनुसार भक्ति मार्ग ज्ञानमार्ग से अपेक्षाकृत सरल और श्रेष्ठ है ।

देवर्षि नारद भी भक्ति को कर्म और ज्ञान से बढ़कर बतलाते हैं ।[६] भक्ति के प्रभावसूचक छः गुण है –

१– यह सभी प्रकार से दुखों का निवारण करती है ।

२– यह कल्याण की प्रदात्री है ।

३– मोक्ष को भी कुछ नहीं समझती है ।

४– अत्यन्त सुलभ है ।

५– घनीभूत आनन्द है ।

६– भगवान श्रीकृष्ण को अपनी ओर आकर्षित करने वाली है ।

१– *गीता २ ॥ ७२ ॥*

२– *गीता २ ॥ ५५ ॥*

३– *गीता ४ ॥ १८ ॥ २४*

४– *गीता १२ ॥ १*

५– *गीता ९ ॥ २*

६– *सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योधिकतरा । नारद भक्ति सूत्र २५*

इसी कारण भक्तियोग पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि भक्ति , शूद्र, नर–नारी सभी के लिए कल्याणकारी है । भक्ति काया चित्त को पीड़ित किये बिना केवल मनोवृत्ति के द्वारा सम्पादित हो सकने के कारण सहज सुलभ है ।[1] स्वंय भगवान यह आश्वासन देते हैं कि कर्म तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म, व्रत, तीर्थयात्रा प्रभृति अन्य कष्टदायक साधनों के द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, उस सबको भक्त, भक्ति के द्वारा ही, कठोर परिश्रम किए बिना, प्राप्त करता है ।[२]

शंकराचार्य के मत से अपने स्वरूप का अनुसंधान करना भक्ति है ।[३] देवी भागवत के अनुसार पूज्य में अनुराग होना भक्ति है ।[४] महाप्रभु वल्लभाचार्य का मत है कि भगवान के प्रति माहात्म्य ज्ञान युक्त सुदृढ़ और सर्वाधिक् स्नेह होना ही भक्ति है । मुक्ति इस भक्ति से ही प्राप्त होती है, अन्य किसी साधन से नहीं ।[५] योगिराज जयतीर्थ मुनीन्द्र के मत से "भगवान के अपरमिति, अनवद्य और कल्याणकारी गुणों के ज्ञान से समुत्पन्न उनके प्रति अपने सभी सम्बन्धियों और पदार्थो से ही क्या, प्राणों से भी अधिक अत्यन्त सुदृढ़ अखण्ड प्रेम के प्रवाह को भक्ति कहते हैं ।[६]

१— *मार्गास्त्रियो म विख्याता मोक्षप्राप्तो नगाधिप।*
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्ति योगेश्च सतम् ।
त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा
सुलभत्वान्मानसत्वात् कार्याचित्ताद्रयपीड़नात् सम ।।
देवी भागवत ७ ।। ३७ ।। २—३

२— *यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।*
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।
सर्वमद्भक्तियोगेन मद्भक्तोलभतेजसा।
श्रीमद्भागवत ११ ।। २० ।। ३०

३— *स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।*
विवेक चूड़ामणि ३२

४— *पूज्येएवनुरागो भक्तिः (देवी भागवत) ७। ३१*

५— *महात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः ।*
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा। *(तत्वदीप निबंध ४२)*

६— *तत्रभक्तिमधिनिरवधिकानन्तानवद्य कल्याण गुणत्व ज्ञानपूर्वकः।*
स्वस्यात्मात्मीय समस्त वस्तुभ्योऽनेक गुणोधिकोऽन्तराय—
सहस्त्रेणाप्येप्रतिबद्धो निरन्तर प्रेमप्रवाहः। (श्रीमन्न्याय सुधा)

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज के मत से भक्ति ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है ।[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति का विवेचन करते हुए लिखा है कि "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।"[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शांडिल्य ने ईश्वर के प्रति परमानुरक्ति को भक्ति कहा है, और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्रद्धा युक्त प्रेम को भक्ति कहा है । जब हमारी अनुरक्ति का आलम्बन ईश्वर होगा, तब वह अपने आप हमारी श्रद्धा का भी आलम्बन होगा । श्रद्धा के लिए यह आवश्यक है कि श्रद्धेय में लोकोत्तर गुण हो । ईश्वर में सभी सात्विक गुण निरवधि रूप से स्थिति रहते हैं । इस प्रकार ईश्वर की परम श्रद्धेयता सिद्ध हो जाती है । परम श्रद्धेय ईश्वर के प्रति जब हमारे हृदय में परमानुरक्ति उत्पन्न हो जाती है, तब उसे भक्ति की अमिधा प्राप्त होती है ।[३] महर्षि शांडिल्य, आचार्य शुक्ल और नारद की परिभाषाओं का आशय यही है ।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भगवत्प्रेम में द्रवित होकर भगवान के साथ जो चित्त का सविकल्पक भाव है, वही भक्ति है ।[४] श्रीमद्भागवत भी भगवान का गुण—गान करते—करते

१— कल्याण भक्ति रहस्य (हिन्दू संस्कृति अंक २४/१)पृष्ठ ४३७

२— चिन्तामणि — आचार्य रामचंद्र शुक्ल — प्रथम भाग पृष्ठ ३२

३— स्नेहप्रेमश्रद्धाभेदेन लौकिकोऽनुरागस्त्रिविधः। तत्र पुत्र कन्या शिष्यादिषु निम्नगामी अनुरागः स्नेह उच्यते। मित्र कलत्रादिषु समानगामी अनुरागः प्रेम निगद्यते। मातृपितृगुरूजनादिषु च मान्यगामी अनुरागः श्रद्धानाम्ना व्यपदिश्यते। ईश्वराभिमुखी प्रवर्द्धमाना श्रर्द्धेव भक्तिपदवाच्यातां धत्ते। (पुराणपर्यालोचनम् — प्रथमो भागः पृष्ठ ७५)

४— द्रवीभावपूर्विकाहि मनसो भगवदाकारता सविकल्पक वृत्ति रूपा भक्तिः। (मधुसूदन सरस्वतीकृत भगवद्भक्ति रसायन पृष्ठ २७)

भगवान के प्रति समुद्रगामिनी गंगा की तरह (अविरामधारा) चित्त की जो अहेतुक अविच्छिन्न गति है, उसी को भक्ति मानता है ।[1] और वल्लभ महाप्रभु भी भगवान में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक शुद्ध और सतत् स्नेह को ही भक्ति कहते हैं।

ऐसा लगता है कि परमप्रेममय भगवान के प्रति प्रेम को ही भक्ति मानने में सभी आचार्य एकमत हैं ।[2]

भक्ति के भेद और प्रकार :–

भक्ति के दो भेद होते है –

१– साधना भक्ति या गौणी भक्ति

२– साधन भक्ति या प्रेमा भक्ति ।

यह विभाजन भक्ति के साधन और साध्य पक्ष के आधार पर किया गया है । मन की एकाग्रता से भगवान का नित्य निरन्तर श्रवण, कीर्तन, भजन आराधना आदि भक्ति का साधन पक्ष है, और भगवान में परानुरक्ति अथवा सिद्ध दशा की भक्ति उसका साध्य पक्ष है, अर्थात् प्रेमा–भक्ति की प्राप्ति साधन भक्ति से होती है ।[3]

शांडिल्य के मत से गौणी भक्ति साधक की भावना और स्थिति भेद से तीन प्रकार की होती हैं[4] :–

१– *मद्‌गुण श्रुतिमात्रैण मयि सर्वगुहासये ।*
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गमेयसोऽम्बुधौ
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याह्युदाहतम्।
अहेतुक्यप्यवहिता या भक्तिः पुरूषोत्तमे।
(श्रीमद्‌भागवत ३।२९।११–१२

२– *हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य में मधुर भाव की उपासना*
डा० पूर्णमासी राय (पृष्ठ ८)

३– *भक्त्या भजनोपसंहाराद्‌गोण्या परायैतद् हेतुत्वात्*
(शांडिल्य भक्ति सूत्र ५६)

४– *गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम्।*
(शांडिल्य भक्ति सूत्र ७२)

१— आर्त भक्ति　　२— जिज्ञासा भक्ति　　३— अर्थाथिता भक्ति

इसके अतिरिक्त पुन: गौणी भक्ति के दो भाग किए गए है :—[1]

१— वैधी भक्ति　　२— रागानुगा भक्ति

जिस भक्ति का साधन शास्त्रों में बताए गए नियमों के अनुसार होता है उसे वैधी भक्ति कहते हैं ।

जिस भाव से भगवान के प्रेम में अपूर्व रस का अनुभव होता है और भक्त के हृदय में परमशान्ति तथा आनन्द उत्पन्न होता है उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं ।

रागानुगा के पुन: दो भाग किए गए हैं — [2]

१— कामरूपा　और　२— सम्बन्धरूपा

वैधी और रागानुगा दोनों साधन पक्ष के अन्तर्गत हैं । कभी—कभी वैधी भक्ति को मर्यादा भक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है और साध्य भक्ति को स्वरूपा भक्ति से अभिहित किया जाता है ।

साधन भक्ति या मर्यादा भक्ति के पाँच अंग माने गए हैं —

१—उपासक　२— उपास्य　३— पूजाद्रव्य　४— पूजा विधि　और मंत्र जप ।

नारद के मत से गौणी भक्ति के निम्नलिखित तीन भेद होते हैं —

१— वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनभिधा ।

(हरिभक्तिरसामृत—सिंधु पूर्व विभाग—२ श्लोक ३)

२— सा कामरूपा सम्बंधरूपा चेति भवेद्द्विधा ।

(हरिभक्तिरसामृत—सिंधु पूर्वविभाग—२ श्लोक ६३)

१– सात्विकी भक्ति –

जो भक्ति सर्वकर्मफल को भगवान के चरणों में अर्पित करने के उद्देश्य से की जाती हैं ।[1]

२– राजसी भक्ति –

जो भक्ति ऐश्वर्य की कामना से की जाती है ।[2]

३– तामसी भक्ति –

जो भक्ति दम्भ और क्रोध भाव से की जाती है ।[3]

श्रीमद्भागवत में भक्ति के कई प्रकार बताए गए हैं । पहले पहल मनुष्य की वृत्तियों के अनुसार उसके चार भेद माने गए हैं –

१– सात्विकी   २– राजसी   ३– तामसी और

४– निर्गुण ।[4]

१– कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परिस्मिन्वा तदर्पणम्।

यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथवभाव स सात्विक:।

(भागवत ३ । २९ । १०)

२– विषयानभिसांधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।

अर्चादावचमेद्यो मां पृथग्भाव: स राजस:।

(भागवत ३ । २९ । ९)

३– अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।

संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामस:।

(भागवत ३। २९। ८)

१– श्रीभागवत तृतीय स्कंध अध्याय २९ श्लोक ७–१४

प्रथम तीन भक्तियाँ काम्य हैं और चौथी निर्गुण भक्ति निष्काम है । सात्विकी भक्ति मुक्ति की कामना से की जाती है । राजसी भक्ति धन, कुटुम्ब, घर–बार की इच्छा से की जाती है और तामसी भक्ति में यह कामना रहती है कि दूसरों का अहित हो जाए। निगुर्ण भक्ति जो ''सुधासार'' भक्ति भी कहलाती है । बिना किसी कामना के की जाती है । इसमें मुक्ति की भी इच्छा नहीं रहती । यह अनन्य भक्ति है जो व्यक्ति अनन्य भक्ति की साधना करता है, उसका न कोई मित्र है न कोई शत्रु ही । उसे इस संसार के दुःखों से किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है, वह भगवान के दर्शन मात्र से परम आनन्द का अनुभव करता रहता है ।

श्री रूपगोस्वामी के मत से भक्ति तीन प्रकार की होती है [१]–

१– साधन भक्ति २– भाव भक्ति

३–प्रेमाभक्ति

१– साधन भक्ति –

इष्टदेव के प्रति उपास्य साध्यभाव को साधन भक्ति कहते हैं । [२]

साधन भक्ति के दो उपभेद हैं–[३]

१– वैधी २– रागानुगा

जहाँ भावुक की, भक्ति की ओर शास्त्राज्ञा से ही प्रवृत्ति होती है, प्रेमाकर्षण से नहीं, उसे वैधी भक्ति कहते हैं । [४]

१– *सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमाचेति त्रिधोदिता।*

ह०भ०र० १/२/१

२– *कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनविधा।*

ह०भ०र० १/२/१

३– *वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनभिधा।*

ह०भ०र० १/२/३

४– *यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृतिरूपजायते ।*
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरूच्यते।

ह०भ०र० १/२/४

रागानुगा को व्याख्यायित करते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं कि ब्रजवासियों द्वारा की गई भगवद्प्रीति का अनुसरण करने वाली रागात्मिका प्रीति ही रागानुगाा भक्ति हैं।[1] राग का लक्षण देते हुए कहा गया है कि अभिलषित वस्तु में जो स्वाभाविक परम आवेश अर्थात् प्रेममयी तृष्णा होती है उसका नाम राग है और ऐसी रागमयी जो भक्ति है, उसका नाम रागात्मिका भक्ति है।[2] यह रागात्मिका भक्ति कामरूपा एवं सम्बन्ध रूपा भेद से दो प्रकार की होती हैं ।

कामरूपा –

काम शब्द का तात्पर्य इष्ट विषयक प्रेम विशेष से है । यह कामरूपा भक्ति केवल ब्रज बालाओं में ही होती है । उनका यह विशिष्ट प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरी को प्राप्त कर उन्हीं क्रीड़ाओं का कारण होता है, जो काम में वर्णित होती हैं ।[3]

सम्बन्धरूपा –

भगवान में पिता आदि का आरोप अर्थात् मैं कृष्ण का पिता, सखा, बन्धु, माता आदि हूँ – इस प्रकार की भावना पर आधारित भक्ति सम्बन्ध रूपा भक्ति कहलाती है।

२– **भाव भक्ति** –

विभिन्न प्रकार की रूचियों से चित्त को कोमल बनाने वाले शुद्ध सत्वमय और

१– *विराजन्तमिभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु*
रागात्मिकामनुसृतायांसा रागानुगोच्यते ।
हरिभक्ति रसामृतसिंधु १।२।६०

२– *इष्टे स्वारसिकी रागः परमविष्टता भवेत् ।*
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता। १३१ (ह०भ०र० पूर्व वि० द्वितीय लहरी)

३– *इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्ध विराजते।*
आसां प्रेमविशेषों यं प्राप्तः कामपि माधुरीम्।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्काम इत्युच्चते बुधैः।
ह०भ०र० १।२।७०

प्रेमाभिन्न अनुराग को भाव भक्ति कहते हैं ।[१] साधक के हृदय में इस भाव भक्ति का उदय, साधन भक्ति का अनुसरण करने से या भगवान अथवा उनके भक्तों की कृपा होने पर होता है ।[२]

३— **प्रेमा भक्ति** — वैधी और रागानुगा भाव—भक्ति का अनुष्ठान करने पर या भगवान की महती कृपा होने पर साधक के हृदय में प्रेमाभक्ति का उदय होता है ।[३]

अन्त:करण को सम्यक् रीति से कोमल बनाने वाले, भगवान के प्रति अतिशय ममत्व को स्थापित करने वाले और आत्मा में पूर्वोक्त भाव को दृढ़ करने वाले भाव को प्रेमाभक्ति कहते हैं ।[४]
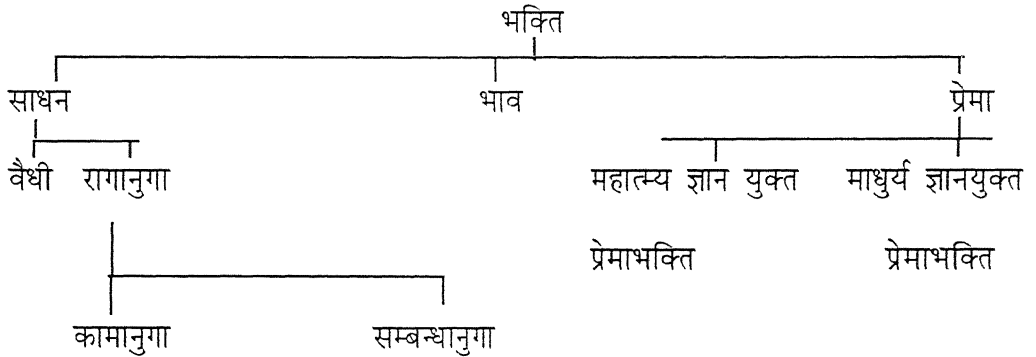
१— *शुद्ध सत्व विशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।*
रूचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौ भाव उच्यते ।
ह०भ०र० १/३/१

२— *साधनभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्त्योस्तथा।*
प्रसादेनाति धन्यानां भावो द्वेधाभिजायते।
ह०भ०र० १/३/४

३— *भावोत्थोऽति प्रसादोत्थ: श्री हरेरिति स द्विधा।*
हरिभक्ति रसामृत सिंधु १/४/३

४— *सम्यङ्ण्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकित:।*
भाव: स एव सान्द्रात्मा बुधै: प्रेमा निगधते ।
ह०भ०र० १/४/१

प्रेमाभक्ति के दो भेद होते हैं [1] –

माहात्म्य ज्ञान युक्त प्रेमाभक्ति और माधुर्य ज्ञान युक्त प्रेमाभक्ति

भक्ति मीमांसा में भक्ति को निगुर्ण और सगुण दो भागों में विभाजित किया गया है ।

निम्बार्क के मत से भक्ति दो प्रकार की होती है[2] –

१– साधन रूपा अपराभक्ति

२– उत्तमा पराभक्ति ।

भक्ति संदर्भ में भक्ति के तीन प्रकार बतलाए गए हैं[3] –

<u>आरोपसिद्धा भक्ति</u> –

भक्तित्व का अभाव होने पर भी भगवान को अर्पण करने आदि जिन कर्मो से भक्ति भावना को प्राप्ति होती है, उन कर्मो की समष्टि को आरोपसिद्धा भक्ति कहते हैं ।

<u>संगसिद्धा भक्ति</u> –

भक्ति के परिकर के रूप में जो कार्य किए जाते हैं, उनको संगसिद्धा भक्ति कहते हैं । ज्ञान और कर्म, भक्ति के संगी के रूप में व्यहृत होते हैं, अतएव इनको संगसिद्धा भक्ति कहते है ।

१– *माहात्म्यज्ञान युक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा।*

ह० भ० र० १।४।४

२– *कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते, ययाभवेत प्रेमविशेषलक्षण,*
भक्तिहर्ननन्याधिपते महात्मन: सा चोत्तमा साधन – रूपिकापरा।

निम्बार्क (वेदान्त कामधेनु)

३– *भक्ति अंक (कल्याण ३२/१) पृष्ठ १७४*

स्वरूपासिद्धा भक्ति –

स्वरूपा सिद्धा भक्ति वह है, जो स्वत: भक्ति रूप में प्रसिद्ध है, श्रवण, कीर्तन आदि अंगों वाली नवधा भक्ति स्वरूपसिद्धा भक्ति है ।

आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में भक्ति के निम्नलिखित चार भेद माने गए हैं [१] –

१– प्रवाह पुष्टि भक्ति
२– मर्यादा पुष्टि भक्ति
३– पुष्टि पुष्ट भक्ति
४– शुद्धपुष्ट भक्ति

प्रवाह पुष्टि भक्ति उन जीवों में होती है, जो भ्रान्त है । संसार चक्र में प्रवाहित हो रहे हैं, किन्तु फिर भी ईश्वर की पुष्टि अर्थात अनुग्रह की याचना करते हैं । प्रवाही जीव को वल्लभाचार्य जी ने ''चर्षणी'' कहा है । चर्षणी का तात्पर्य भ्रान्त से है । प्रवाही जीव सब मार्गों पर क्षणकाल के लिए चलता है, किन्तु अस्थिर बुद्धि के कारण किसी मार्ग पर दृढ़ नहीं रह पाता ।[२] अपनी चंचलता में भी ऐसा जीव भगवान से उनकी कृपा की याचना करता है यही मात्र उसका भक्तिभाव है ।

मर्यादा पुष्टि –

जो विधिमार्ग का अनुसरण करते हुए भगवान की भक्ति में प्रविष्ट होते हैं, वे मर्यादा पुष्टि

१– वैष्णव, शैव और धार्मिक मत (पृष्ठ ११)
२– सम्बन्धिनस्तु ये जीवा: प्रवाहस्थास्तथा परे।
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते सर्वे सर्ववर्त्मसु (२१)
क्षणात्सर्वत्वमायान्ति रूचिरतेषां कुत्रचित्(२२)
(पुष्टि प्रवाह–मर्यादा षोड़श ग्रन्थ पृष्ठ ४४)

भक्ति के अन्तर्गत आते हैं । ऐसे लोग शास्त्रों और वेदों में कहे गए नियमों का आचरण करते हुए, तथा कर्मज्ञान का सहारा लेते हुए केवल भक्ति को ही लक्ष्य मानते हैं । साधना करते हुए भी अपने कर्तृत्व पर भरोसा न रखकर भगवान के अनुग्रह की कामना मर्यादा पुष्टि भक्ति का लक्षण है ।

<u>पुष्टि–पुष्ट</u> – भक्ति का वास्तविक रूप पुष्टि–पुष्ट भक्तों में प्रकट होता है । पुष्टि–पुष्ट भक्तों में शुद्धाभक्ति के बीज सन्निहित रहते हैं एवं भगवान की कृपा से वे अचिरात् अंकुरित हो जाते हैं । प्रभु के अतिरिक्त किसी भी साधन में उनकी रूचि या निष्ठा नहीं रह जाती । पुष्टि–पुष्ट भक्त ''उद्यत होकर साधनों का त्याग नहीं करता, किन्तु स्वभावत: उसका मन साधनों के रहस्य को समझकर अकर्म हो जाता है । ज्वराभिभूत की रूचि अपने आप अन्न पर से हट जाती हैं । [१]

पुष्टि अर्थात भगवान के अनुग्रह द्वारा ही ऐसे जीवों की भक्ति पुष्टि होती है ।

<u>शुद्ध पुष्टि</u> –

मन की ईश्वर में सत्त एवं अविछिन्न गति शुद्ध–पुष्टि भक्ति कहलाती है । इस भक्ति में भगवान से प्रेम का व्यसन हो जाता है जो भक्त अहर्निश भगवान् की लीलाओं का दर्शन एवं उपभोग करता है, वह शुद्धपुष्टि भक्त है ।

इस भक्ति में अनुग्राह्य एवं अनुग्राहयक की पृथक सत्ता नहीं रह जाती, जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर अपना पृथक अस्तित्व खो देती है, उसी प्रकार शुद्ध पुष्टि भक्त अपनी समस्त चेतना को भगवान में डुबोकर उन्हीं का अंशरूप होकर उनकी क्रीड़ा का आस्वादन करता है । यह साधन भक्ति नहीं सिद्ध भक्ति हैं । [२] साधन, भाव, प्रेमभक्ति के भी ऊपर यह कदाचित्

१– भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद
(भट्ठ रमानाथ शास्त्री पृष्ठ ४०)

२– मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्तिधारा और चैतन्य सम्प्रदाय।
पृ० १४ – डा० मीरा श्रीवास्तव

सिद्धभक्ति की नयी श्रेणी में रखी जा सकती है ।

नारद भक्तिसूत्र में भक्ति को एक ही प्रेम रूपा मानते हुए भी उसे ग्यारह आसक्तियों के रूप में बाँटा गया है । वे ग्यारह आसक्तियाँ इस प्रकार है —

१— गुणमाहात्म्या शक्ति २— रूपाशक्ति ३— पूजाशक्ति

४— स्मरणाशक्ति ५— दास्या शक्ति ६— सख्या शक्ति

७— कान्ता शक्ति ८— वात्सल्या शक्ति ९— आत्मनिवेदना शक्ति

१०— तन्मयता शक्ति और ११— परमविरहा शक्ति ।[1]

जो महात्माजन प्रेमरूपा भक्ति की पूर्णता को पहुँच जाते हैं । उनमें तो ये सभी आसक्तियाँ रहती हैं । उदाहरण के लिए ब्रजगोपियों में सभी आसक्तियाँ विद्यमान थी। जिनमें इन सभी आसक्तियों का विकास नहीं हो पाता, उन्हें अपनी—अपनी रूचि के अनुसार, इनमें से एक या एक से अधिक, भावों से भगवान के साथ प्रेम करना चाहिए।

१— गुण माहात्म्यासक्तिरूपासक्तिमरणासक्तिदास्यासक्तिसख्याकित्कांतासक्तिवाटसल्यासक्त्यात्म—निवेदना सक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपाएंकधाप्येकादशधा भवति।

(नारद भक्ति सूत्र ८२)

भक्ति का सिद्धांत –

भक्ति भगवान से मिलने का सर्वोत्तम साधन है । भक्ति का अर्थ है – भगवान की उपासना भगवान की सेवा और भगवान की शरणागति। सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य भक्ति में निहित हैं ।

भक्ति का सिद्धांत किसी एक भाव विशेष को उपलक्षित न करके भावों के एक पूरे समुदाय के साथ एक धार्मिक सिद्धांत को उपलक्षित करता है । ''भगवत'' भक्ति तथा भक्त शब्द परस्पर आंतरिक रूप से सम्बद्ध है, और भगवत शब्द का तात्पर्य वह आदिम जनजातीय समूह था, जो समस्त जनजातीय सम्पत्ति का स्वामी होताा था । भक्ति का अर्थ उस सम्पत्ति का एक भाग या हिस्सा था और भक्त का अर्थ था– वह व्यक्ति जिसे वह भाग प्राप्त होता था । आगे चलकर भगवत को एक देवता या भगवान के रूप में माना जाने लगा और भक्त को जो उस जनजाति का एक सदस्य होताा था, उसके आश्रित तथा उपासक के रूप में ।[१]

भक्ति की मूलभूत धारणा भौतिक और मूर्त थी, और प्रारम्भ में देवताओं के अनुग्रह को सांसारिक वस्तुओं के अर्थ या सन्दर्भ में ग्रहण किया जाता है। इसीलिए अपने प्रारम्भिक प्रयोग में भक्ति शब्द प्रसाद के रूप में कहीं–कहीं अभिहित किया गया है।[२] आगे चलकर भक्ति और भागवत के बीच संगोत्रता के भाव से चाह या प्रेम का अर्थ समाहित हो गया । हापकिंस ने दिखलाया है कि महाकाव्यों प्राचीन अवतरणों में भक्ति शब्द का प्रयोग देवताओं के सन्दर्भ में उसी प्रकार मुक्त रूप में हुआ है, जिस प्रकार मनुष्यों के सन्दर्भ में । देवता लोग मनुष्य के प्रति वैसी ही भक्ति भाव रखते थे, जैसी मनुष्य देवताओं के प्रति ।[३]

१– गोंडा (आस्पेक्ट आफ अर्ली वैएवणिज्म पृष्ठ ७७)
रायचौधरी अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव सेक्ट पृष्ठ १३

२– हापकिन्स (जर्नल आफ द रायल एसोसिएटिक सोसाइटी १९११ पृष्ठ ७३६

३– उपरोक्त

किन्तु महाकाव्यों के परवर्ती अवतरणों तथा पुराणों में हम देखते है कि भक्ति पर केवल मनुष्य का अधिकार है, जिसका अर्थ देवता की प्रेमपूर्ण आराधना मात्र नहीं अपितु अनुराग या लगन के साथ देवता की सेवा करना है ।

भक्ति सिद्धांत के संकेत हमें ऋग्वेदीय सूक्तों एवं मंत्रों में भी मिल जाते हैं, जिनमें कुछ ईश्वर भक्ति से पूर्णत: परिपूर्ण हैं । खासकर वरूण को सम्बोधित उन ऋचाओं में जो भक्ति की भावना से बहुत अधिक मिलती जुलती, आवेशपूर्ण आसक्ति तथा आन्तरिक अनुराग से भरी हुई है । उसमें देवतागण पिता, भ्राता तथा मित्र के रूप में सम्बोधित हैं, और आराधक उनकी उदारता तथा कृपा के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करता है ।

वैदिक कवि इन्द्र से प्रार्थना करता है कि "तू हमारे सम्बन्धी के रूप में अभिज्ञात है, जो एक मित्र, तथा पिताओं में सर्वाधिक स्नेह रखने वाले पिता के रूप में हमारी देखभाल करता है तथा हम पर दया करता है । हमारा रक्षक बन ।[1]

इसी प्रकार वरूण और इन्द्र को सम्बोधित करते हुए आगे कहा गया है ''मेरे सभी विचार (या उक्तियाँ) मिलकर प्रकाश ढूँढ़ते हुए, उसके लिए इन्द्र की स्तुति करते हैं । जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पति का आलिंगन करती है या अपने सुन्दर नवयुवक प्रेमी से आलिंगन बद्ध होती है । उसी प्रकार वे (विचार) उसका (इन्द्र का) जो दानों का दिव्यदाता है, आलिंगन करते हैं । तुम्हारी मित्रता (तुम्हारे भक्तों के साथ) नष्ट नहीं होने वाली (सदा चलने वाली नित्य) है । उसके लिए जो गाय चाहता है, तुम गाय हो जाते हो, जो अश्व चाहता है, उसके लिए तुम अश्व हो जाओं, हे इन्द्र तुम मेरे पिता या भाई से, जो मुझे नहीं खिलाते, अच्छे (धनी) हो, (तुम) एवं मेरी माता, हे वसु, बराबर हैं और धन एवं अनुग्रह देने के लिए (मेरी) रक्षा करते हैं, तुमने कक्षीवान

१— ऋग्वेद ४, १७, १७
हापकिंस द्वारा उद्धृत (द एथिक्स आफ इण्डिया) पृष्ठ ११

को, जिसने तुम्हे एक सूक्त सुनाया एवं सोम की आहुति दी, और जो बूढ़ा हो गया था, वृचया दी, जो नवयुवती था, तुम वृष्णश्व की पत्नी बने, तुम्हारे ये सभी (अनुग्रह) सोम—निषेकों की आहुतियों के समय उद्घोषणा के पात्र हैं, (हे इन्द्र) तुम जो चमकने वाले हो, प्रत्येक घर में छोटे मनुष्य का रूप धारण करके आओ, और मेरे दाँतों से निकाले जाते हुए इस सोमरस को उसे अन्न, अयूप (पुवा) एवं स्तवक के साथ पिओ ।[1] उपर्युक्त बचनों से पता चलता है कि वैदिक ऋषि लोग सख्य भक्ति के स्तर पर पहुँच चुके थे । वरूण को सम्बोधित कुछ मन्त्र भी सख्य भक्ति के द्योतक हैं — यथा हे वरूण, वह कौन सा अपराध मैंने किया है, जिसके कारण तुम अपने मित्र एवं भाट मुझको हानि पहुँचाना चाहते हो, घोषित करो, हे अजेय, स्वेच्छाचारी देव, जिससे तुम्हे प्रसन्न करके मैं पाप से मुक्त होऊँ और शीघ्र ही नमस्कार के लिए तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।[2]

हापकिंस बतलाते है कि ''ऐसे घनिष्ठ एवं प्रीतिकर शब्द प्राय: सवसे अधिक वार अग्निदेव के लिए प्रयुक्त किए गए हैं और उपासकों के साथ उनकी संगोत्रता पर बहुधा बल दिया गया, जो मूलत: अग्नि के विशिष्ट नाम थे ।[3]

यह भावना उत्तर वैदिक युग में जाकर लुप्त हो जाती है, जब वैदिक उपासना रीतिबद्ध कर्मकाण्ड में सीमित होकर उन पुरोहितों के हाथ का अस्त्र बन जाती है, इस अवस्था में देवता और उपासना के बीच के सम्बन्ध औपचारिक और कृत्रिम हो जाते है, और उस मन: स्थिति में

१— *ऋग्वेद — १०/४३/१, १/६२/११, ६/४५/२६, ८/१/६, ८/११/२, १/५१/१३ ३/४३/४, १०/४२/११, १०/११२/१०*
इन सभी में इन्द्र को सखा एवं पिता के समान कहा गया है।

२— *ऋग्वेद ७/८६/२, ७/८८/४/, ७/८९/५*

३— *ऋग्वेद — पृष्ठ — १०—१*

प्रेमपूर्ण आराधना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है ।

भक्ति सिद्धांत से सम्बन्ध ईश्वरीय अनुग्रह तथा साकार ब्रहम की धारणा के मूल यों तो कुछ औपनिषदिक अवतरणों में भी पाए जा सकते हैं ।[1]

———किन्तु कठ एवं मुण्डक उपनिषदों में भक्ति सम्प्रदाय का यह सिद्धांत कि यह केवल भगवद्महिमा है, जो भक्त को बचाती है, पाया जाता है । जैसे – यह परम आत्मा (गुरू के) प्रवचन से नहीं प्राप्त होता और न मेधा (वुद्धि) से और न बहुश्रुतता (अधिक ज्ञान) से परमात्मा की प्राप्ति उसी को होती है, जिस पर परमात्मा का अनुग्रह होता है, उसी के सामने यह परम आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है ।[2]

यह कथन इस सिद्धांत का द्योतक है कि परमात्मा का अनुग्रह ही भक्त को मोक्ष प्रदान करता है । श्वेताश्वेतरोपनिषद में भक्ति का शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जो गीता तथा अन्य भक्ति विषयक ग्रन्थों में प्राप्त होता है – ये कथित बातें उस उच्च आत्मा वाले व्यक्ति में, जो परमात्मा में परम भक्ति रखता है, और वही भक्ति जो भगवान में है, गुरू में रखता है, अपने आप प्रकट हो जाती है ।[3] इसी उपनिषद ने भक्ति सम्प्रदाय के दृष्टिकोण (सिद्धांत) पर बल दिया है – ''मैं मोक्ष का इच्छुक उस परमात्मा की शरण में पहुँचता हूँ, जिसने पूर्वकाल में ब्रहमा को प्रतिष्ठापित किया, जिसने उसको (ब्रहमा) को, वेदों का ज्ञान प्रदान किया और जो प्रत्येक आत्मा की मेधा को प्रकाशित करता है ।[4]

१– कठोपनिषद (२.२.३)

२– कठोपनिषद २।।२२
मुण्डकोपनिषद् ३।२।३

३– यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। यस्यैते कथिता हर्नथाः प्रकाशन्ते महात्मन५।
(श्वेताश्व० ६/२३)

४– यो ब्राहमाणं विदधाति पूर्वयो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वे शरणमहं प्रपद्ये।
(श्वेताश्व० ६/१८)

किन्तु इस सिद्धांत का प्रथम स्पष्ट विवेचन भगवद्गीता में ही प्राप्त होता है । भगवद्गीता में भक्ति का तात्पर्य परमात्मा के प्रति विशुद्ध प्रेम से है, जो यद्यपि अपने भीतर सम्पूर्ण विश्व को धारण किए हुए है, तथा अकल्पनीय है, तथापि एक ऐसा साकार और अर्चनीय रूप रखता है, जिसके साथ उपासक वैसी घनिष्ठ आत्मीयता के भाव का अनुभव कर सके, जैसी आत्मीयता मित्र और मित्र, पिता और पुत्र, प्रेमी और प्रेमिका के बीच होती है ।[१] पर उसमें भावुक प्रेम का पुट नहीं है । भगवान के प्रति अपनी प्रेमपूर्ण उपासना में भक्त उनकी लोकातीत्वता तथा महिमा से पूर्णत: अनभिज्ञ रहता है, तथा वह पूरी विनम्रता के साथ उनके अनुग्रह की याचना करता है।

गीता में उस परमात्मा के प्रति भक्ति मिश्रित भय तथा श्रद्धा का वातावरण उपस्थित किया गया है, जिनका रूप आतंककारी है, किन्तु जो भक्तों के कल्याणार्थ अधिक सहन रूप ''धारण करना'' कृपावश स्वीकार कर लेता है । यह ठीक ही कहा गया है कि गीता में दैवीय कृपा का वर्णन एक उग्र एवं क्रियाशील शक्तिशाली अधिपति के कृपाभाव के रूप में किया गया है और यह कहा गया है कि उसकी महिमा एक सम्राट की महिमा है, जिसकी कल्पना एक साधारण मनुष्य कर ही नहीं सकता है।[२] किन्तु गीता में भक्ति नितांत विनयपूर्ण भक्ति की उपासना मात्र नहीं अपितु बौद्धिक विश्वास एवं श्रद्धा भी है ।[३] श्रद्धा धार्मिक उपासना का आधार होती है । अत: भक्ति वह उपासना है, जिसका जन्म श्रद्धा से होता है, इसीलिए भगवान गीता में घोषित करते है कि व्यक्ति चाहे किसी धर्म में विश्वास करे, जब तक उसके भीतर श्रद्धा विद्यमान रहती

१— *तस्मातप्रणम्य प्रणिधाय कायंप्रसादये त्वामहमीशमीड्यम।*
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु: प्रिय: प्रिर्यायाहसिदेव सोदुम ।
(श्री मद्भागवद्गीता ११/१४)

२— *'द वंडर दैट वाज इण्डिया' — (ए० एल० बाशम — पृष्ठ — ३०३०)*

३— *भाग ९, १३, २६*
हापकिंस 'द एथिक्स आफ इण्डिया' (पृष्ठ ११४)

है, वे उसे सच्ची भक्ति प्रदान करते हैं और उस धर्म के माध्यम से उसकी सभी इच्छाएँ पूरी करते हैं ।[1]

गीता में उपासना और श्रद्धा पर जो विशेष बल दिया गया है, वह उस युग की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुरूप है । इतना ही नहीं भगवद्गीता में भक्ति का सिद्धांत अपने विस्तृत अर्थ में एक धार्मिक नियम तथा एक जीवनशैली बन गया है । व्यावहारिक उपयोग में इस सिद्धांत का लक्ष्य परमात्मा के सान्निध्य की कल्पना करते हुए परमानन्द दायक समाधि का आनन्द उठाना मात्र नहीं अपितु निर्लिप्त भाव से अपने वर्ण धर्मों अर्थात् जातिगत भाव से अपने वर्ण धर्मों अर्थात् जातिगत कर्तव्यों तथा सामाजिक आचारों का पालन करना है ।[2]

इस प्रकार भक्ति का सिद्धांत सदैव तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में हुए परिवर्तनों के अनुरूप ढ़लता रहा और इसी प्रकार उसका विकास हुआ । यही कारण है कि यह निरन्तर आकर्षक बना रहा ।

१— *यो यो यां यां तनुं भक्त: श्रद्धायार्चितुमिच्छति।*
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विद्धाम्यहम्।
(भगवद्गीता ७/२१)

२— *तुल० भाग० (१.१८.५६)*

भक्ति का उद्देश्य –

भक्ति का मुख्य उद्देश्य भगवान को अपने चित्त में वशीभूत करना है । वह चित्त को शुद्ध बनाकर उसे ज्ञान तथा भक्ति के पात्र बनने की योग्यता प्रदान करता है । भगवान के वशीकरण के निमित्त यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ उपाय है । भगवद्‌भक्ति बड़ी मधुर एवं आनन्ददायिनी है, ऐसे घोर संसार सागर से बेड़ा पार लगाने की इसी में सामर्थ्य है ।

सम्पूर्ण विश्व जिनके कारण छटपटा रहा है, और निरन्तर उन्ही में फँसता जा रहा है, जिनसे बचने के लिये थोड़े से गिने चुने लोग मोक्ष की कामना करते हैं, उन्हीं क्लेशों का नाश करना भक्ति का मुख्य उद्देश्य है। गोस्वामी तुलसी दास ने कहा है–

ऐसेहि हरि बिनु भजन खगेसा,

मिटइ न जीवन केर कलेसा ।

भक्ति का दूसरा उद्देश्य 'शुभदातृत्व' है। शुभ का सामान्य अर्थ सुख है । भक्ति सम्पूर्ण सुखों की खान है। यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि भक्ति के बिना शाश्वत सुखोपलब्धि हो ही नहीं सकती । ज्ञान से भार पीड़ित व्यक्ति का भार उतरने के समान सांसारिक क्लेशों की निवृत्ति तो शास्त्रों तथा आचार्यों ने बतायी है, परन्तु उससे अन्य किसी सुख की उपलब्धि का कोई बचन नहीं है। अतः सुख तो भक्ति से ही मिल सकता है।

भक्ति का तो हजारों साधनानुष्ठान से भी प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है तभी तो परम भक्त श्री विल्वमंगल जी कहते हैं – 'कृष्ण भक्ति रूप रस से सराबोर मति जहाँ कही भी मिले खरीद लो, अधिक उत्कंठा ही उसका मूल्य है, अन्यथा करोड़ों जन्मों के पुण्यों से भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।[१] श्री भगवान भी मुक्ति तो दे देते हैं पर भक्ति नहीं ।

१– *क्रीयतां यदि कुतोडपि लभ्यते कृष्णभावसभाविता मतिः।*
तत्र मूल्यभपि लोल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते।
(श्री विल्वमंगल)

भक्ति से व्यष्टि–समष्टि घातक सभी तत्व नाशोन्मुख होने लगते हैं, एवं ऐसा निर्दोष, निर्मल और निष्पाप तथा सुखद वातावरण बन जाता है, जिसमें प्रवेश करके पतनोन्मुख मनुष्य भी प्रकर्षोन्मुख हो जाता है, और भक्त पुरूष तो ऋषि–महर्षि तक बन जाता है, एवं एकान्त सेवी विरक्त महात्मा ।

१– भक्ति स्वंय एक विलक्षण आनन्द है, भक्ति रस समस्त रसों का मधुर निर्यास एवं समस्त सौन्दर्यो का सौन्दर्य है । इसके स्वाद के सम्मुख लोक परलोक का कोई आनन्द भी नहीं ठहर सकता। भक्ति न केवल साधन है, अपितु स्वंय साध्य और फलस्वरूपा है ।

२– भक्ति रस के आनन्दातिरेक से साधक भक्त आत्मसम्पृक्त और परसम्पृक्त भाव–भावनाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है । ऐसी दशा में वह भाव कर्म और इच्छा की व्यावहारिक सकाम सीमा को पार कर जाता है, फिर वह किसी भी भय, शंका, दु:ख शोक अथवा प्रलोभनों का शिकार हो ही कैसे सकता है ।

३– परमात्म तत्व आराध्य देव के आनन्द सायुज्य से भक्त सदैव प्रफुल्ल एवं सन्तुष्ट रहता है । अतएव सांसारिक दु:ख एवं प्रलोभन उसे आकर्षित नहीं कर सकते । भक्ति साधना द्वारा अज्ञानोपहत एवं मायोपहत जीव मल विक्षेप एवं आवरण से मुक्त होकर अपने में ब्रह्मानन्द का अनुभव करके निर्विकार अकुतोमय और आनन्द स्वरूप हो जाता है । ऐसी दशा में व्यावहारिक दु:खों से सर्वदा उसको छुटकारा हो जाता है ।

४– वेदान्त की दृष्टि से जीव परमात्मत्व ही है । भक्ति साधना द्वारा इस दृष्टि को व्यापक बना लेने पर जीवमात्र ही भक्त साधक की दृष्टि में आनन्द स्वरूप परमात्म तत्व दीख पड़ता है । फिर जीव जन्य दु:ख उसे नहीं हो पाते । अत: ब्रह्म की भक्ति में लीन होने पर फिर भक्त जीव उसके अपने आनन्द से वंचित कैसे रह सकता है, और सांसारिक दु:खों का भोगायतन भी कैसे बन सकता है ।

५– इष्ट के धारणा–ध्यान और समाधि जन्य फल से भक्त आत्मरूप हो जाता है, फिर वह न

केवल व्यवहार अपितु संसार के सभी कार्य करता हुआ जाग्रदवस्था में भी समाधिस्थ सा बना रहता है ।

६— भक्ति के द्वारा ही वह दु:ख मात्र से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है । भगवान की भक्ति में तल्लीन रहने में इतना आनन्द है, इतनी एकाग्रता है कि वहाँ मोक्ष की इच्छा के लिए भी अवकाश नहीं है ।

प्रभु को वश में करने के लिए भक्ति से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं है । भक्ति हमारे जीवन का प्राण है । जिस प्रकार पौधे का पोषण जल तथा वायु के आधार पर होता है, उसी प्रकार हमारा हृदय भक्ति के द्वारा ही बलवान और सुखी होता है ।

भक्ति में एक सर्वोत्तम गुण है, सर्वात्मभाव प्रदान करने का, और उसी के सहारे हम सरलता से गुणातीत हो सकते हैं फिर जैसे—जैसे हम अपने मार्ग में आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे—वैसे मार्ग में आने वाली सारी कठिनाईयाँ सम्भवत: दूर होती जायेगी ।

रूप गोस्वामी ने लिखा है — भक्ति सर्वातिशायिनी है, अपराजिता है, सारी प्रतिकूल शक्तियाँ भक्ति के सामने पराजित हो जाती है । भक्ति एक बार जिस चित्त में जाग उठती है, तो उसमें कोई विरूद्ध शक्ति प्रवेश नहीं कर सकती । भक्ति ही चिरविजयिनी, चिरसंजीवनी रूप में विराजती है ।[१] भक्ति से पाप जलकर राख हो जाते हैं । स्वंय भगवान कहते हैं ''जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढ़ेर को भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप राशि को पूर्णतया जला डालती है।[२]

१— *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्मधिनावृतम्।* *(रूपगोस्वामी)*
अनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा। (भक्तिरसामृत सिंधु)

२— *यथाग्नि: सुसमृद्धार्चि: करोत्येधांसि भस्मसात् । तथा मद्विषया —*
भक्तिरूद्धवैनासि कृत्स्नश:। *(भग०पु० ११/१४/१९)*

गीता में स्पष्ट कहा गया है – वह जो दुरन्त शक्तिशालिनी माया है, वह माया भी इस भक्ति के द्वारा पराजित हो जाती है, भक्ति के प्रभाव से छिन्न–भिन्न होकर विलीन हो जाती है।[१]

भक्ति जीव के हृदय का नित्य तत्व है । भागवत में अन्यत्र कहा गया है कि भक्ति के बिना योग तप आदि से भी चित्त शुद्ध नहीं होता है, गुणों का प्रभाव रह ही जाता है । चित्त मायातीत नहीं हो सकता, जो लोग मुक्त हो गए हैं, अथवा मुक्त होने का अभिमान रखते हैं, वे अन्त में निम्न भूमि में आ पड़ते हैं । केवल भक्तिहीनता ही उनके इस पतन का कारण है ।[२]

भक्ति साधना में भक्त श्री भगवान के लीला राज्य में प्रवेश करता है । माया से तो वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है । भक्ति का चरम फल है – अनन्त –रूप–रस ऐश्वर्य–गुणशाली सर्वभाव–परिपूर्ण तत्व स्वरूप श्री भगवान के आनन्द चिन्मय राज्य को प्राप्त करना ।

भक्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध में नारद भक्ति सूत्र में कहा गया है कि भक्ति अपना फल स्वंय ही है । अर्थात भक्ति का फल भक्ति ही है ।[३] भक्ति अमृत स्वरूपा है ।[४] इसका तात्पर्य यह है कि भक्ति को अमृतत्व की प्राप्ति का भी साधन माना जा सकता है । भक्ति की प्राप्ति से पुरूष सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है ।[५] इस सूत्र का तात्पर्य यह

१– *दैवी ह्नेषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।*
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (भगवद्गीता ७/१४)

२– *येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन–*
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय:।
आरूह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत:
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय:।
(भाग० पुराण १०/२/३२)

३– *स्वंय फलरूपतेति ब्रह्मकुमारा: (नारद भ० सूत्र ३०)*

४– *अमृत स्वरूपा च (ना०भ० सू० ३)*

५– *यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति। (ना०भ०सू०८०)*

है कि नारद भक्ति के फलों में सिद्ध होना, अमृत होना और तृप्त होना इन्हें भी स्वीकार करते थे । अपने ग्रन्थ के अन्त में नारद कहते हैं कि तीनों सत्य में भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही महान है ।[1] इससे यह सिद्ध होता है कि नारद यह कहना चाहते हैं कि भक्ति अपना फल स्वंय आप ही है, और किसी भी फल की प्राप्ति के लिए भक्ति मार्ग सर्वोत्तम है ।

ईश्वर को जानना, ईश्वर को प्राप्त होना, ईश्वर को अपने में पा लेना, अपने आप को जान लेना काल पर विजय पा लेना, मोक्ष पा जाना, ऐसे अनेक लक्ष्यों की कल्पना मनुष्य सदैव से करता रहा है । किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई न कोई विशेष जीवन पद्धति अपनाने की चेष्टा की जाती है । भक्ति अपने आप में लक्ष्य है या मार्ग है, यह विवाद का विषय है, क्योंकि सच्चे भक्त को भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती । इस सम्बन्ध में पद्माकर कहते हैं कि इस जीवन का यही फल है कि छल छोड़कर भगवान का भजन किया जाए ।

१— *त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी* (ना० भ०सू०)

गुप्तयुग तक भक्ति का विकास और स्वरूप

- वेदों में भक्ति
- ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति का स्वरूप
- आरण्यकों में भक्ति
- उपनिषदों में भक्ति
- भक्ति के विकास में रामायण का स्थान
- महाभारत में भक्ति
- श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति
- पाँचरात्र-आगमों में भक्ति
- जैन सम्प्रदाय में भक्ति
- बौद्ध सम्प्रदाय में भक्ति

गुप्त युग तक भक्ति का विकास
और स्वरूप

सृष्टि काल के प्रारम्भ से ही प्रकृति के विभिन्न रूप (अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, सर्प और हाथी आदि) की पूजा के भूल में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही विकसित रूप श्रद्धा, वेदन, उपासना, ध्यान और भक्ति है, अर्थात, भक्ति का उद्‌गम भी मानव जिज्ञासा और विश्वास की विकासजन्य परिणति का फल है।

इस क्रम में जब हम भक्ति के मूल उद्‌गम की दृष्टि से विचार करते हैं, तो सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय आता है। जिनके अन्तर्गत इतिहास के अति महत्वपूर्ण और अलभ्य ज्ञान भरे पड़े हैं ।

वेद :

वैदिक युग में भक्ति, उपासना, आदि का स्वरूप क्या था । इस विषय में विद्वान एकमत नहीं प्रतीत होते । वे प्रमाण के साथ–साथ अनुमान का भी सहारा लेते हैं । कीथ जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भक्ति का मूल स्रोत ईसाई धर्म है, जिसके प्रभाव से भारत में भक्ति तत्व का विकास हुआ यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों का उपर्युक्त मत निश्चित रूप से पूर्वाग्रहग्रस्त तथा अनुपयुक्त है। ऋग्वेद समेत वैदिक वाङ्मय की प्राचीनता एवं भक्ति मूलकता निर्विवादरूपेण सिद्ध होने के उपरान्त भी भक्ति को ईसाई धर्म का प्रभाव बतलाना पाश्चात्य विचारकों के इसी दृष्टिकोण का फल है।

विश्व साहित्य में वेदों को प्राचीन ग्रन्थ माना गया है।[1] भारतीय परम्परा में वेद

---

1. *"The oldest literary monuments," - Max Muller, Preface to the Rigveda, Vol. I, Page 7. (Ist Edition)*

अपौरूषेय है, ईश्वर के नि:श्वास है, और वे सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही प्रकट हुए हैं।[1] वेद शब्दों के आधार पर ही समस्त प्राणियों तथा वस्तुओं के नाम और कर्मो का निर्माण किया गया है।[2] अत: वैदिक साहित्य में भक्ति के स्रोत ढूंढना सर्वथा उचित और तर्कसंगत प्रतीत होता है।

डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने ग्रन्थ ''भक्ति का विकास'' में वेदों से ही भक्ति का प्रारम्भ माना है। उनके अनुसार भक्ति का मूल रूप वेदों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[3]

वैदिक साहित्य में भक्ति भावना के सूत्र प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं । भारतीय भक्ति सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद ही है ।[4] अत: यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में भक्ति तत्व अवश्य विद्यमान है, जिन्होने परवर्ती समस्त भारतीय भक्ति भावनाओं और धार्मिक साधनाओं को सुदृढ़ आधार विविध रूप और अमर जीवन तत्व प्रदान किए हैं ।[5] भक्ति के जिस स्वरूप का प्रतिपादन परवर्ती आचार्यो ने किया है, भक्ति अपने उस रूप में संहिता या ब्राह्मण भाग में भले ही उपलब्ध न हो, किन्तु भक्ति का मूल तत्व स्नेह या अनुराग विभिन्न

१— ऋग्वेद १०/९०/९ यजुर्वेद ३१/७ अथर्ववेद १०/७/२० वृहदारण्यकोपनिषद् २/४/१०

२— सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्—पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।
(मनुस्मृति १/२१)

३— 'भक्ति का विकास'— डा० मुंशी राम शर्मा
(पृष्ठ १११)

४— डा० वेणी प्रसाद — 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'
(पृष्ठ ३१ द्वितीय संस्करण)

५— डा० गिरिधारी लाल शास्त्री — "हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि
प्रथम संस्करण १९७७ (पृष्ठ ३०)

ऋषियों की देवताओं को लक्ष्य करके की गई स्तुतियों में स्पष्ट झलकता है—

तुमु स्तोतारः पूर्व्य यथाविद्

ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।

आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन

महस्ते विष्णों सुमतिं भजामहे ।[1]

ये स्तुतियाँ या प्रार्थनाएँ इतनी मार्मिकता के साथ की गई है कि इनके श्रोता के हृदय में अपने स्तुत्यमान देवता के प्रति उत्कट प्रेम का अभाव मानना अत्यंत ही उपहासास्पद होगा। वैदिक ऋषियों ने माता—पिता और मित्र आदि जिन भावों से भावुक होकर अपने देवताओं की प्रार्थनाएँ की है, वे भाव ही इस तथ्य को विधिना प्रमाणित करते हैं कि ये प्रार्थनाएँ कितने उत्कट प्रेम से समन्वित है।

साधन भक्ति के नव भेदों (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चना, वंदना, दास्य सख्य और आत्मनिवेदन) की परिकल्पना ऋग्वेद में किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। वैदिक ऋषि भगवान विष्णु का स्मरण और कीर्तन करने वाले भक्तों के प्रति उनकी भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए कहता है कि —

'विचक्रमे पृथ्वीमेष एतां

क्षेत्राय विष्णुर्म तुषे दशस्यन्

ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास

उरूक्षितिं सुजनिमा चकार ।[2]

१— १/१५/३

२— ऋग्वेद — ७/१००/४

गायत्री मंत्र के नाम से ऋग्वेद का जो मंत्र प्रसिद्ध है, उस मंत्र में सवितृ देव के ध्यान का विधान किया गया है।[1] एक अन्य मंत्र में ऋषि द्वारा अग्नि का ध्यान करने का उल्लेख हुआ है।[2]

वेद इस बात का प्रमाण है कि वैदिक काल में ऋषि अनेक देवताओं की स्तुति करते थे । यह अवश्य है कि कोई एक ब्रह्म अथवा एक इष्ट उनका नहीं था, किन्तु कहीं—कहीं ऐसे कथन उपलब्ध होते हें जिनसे यह ज्ञात होता है कि एक ही की शरण को दृढ़ता से ग्रहण करने का भाव उसी समय प्रारम्भ हो गया था । जैसे 'हे अद्‌भुत कर्म वाले इंद्र । चाहे देवभक्त मनुष्य हमको अच्छे भागों वाले कहे, दोनों अवस्थाओं में हम इन्द्र की शरण में रहेंगे ।[3] इससे यह व्यक्त होता है कि केवल एक ही देवता की उपासना की उस समय निंदा की जाती थी, किन्तु फिर भी किसी ऋषि में एक देवता की ही शरण ग्रहण करने का भाव उदय हो गया था ।

एक अन्य स्थल पर वैदिक ऋषि इन्द्र से कहता है 'कि अब तो मेरी यही इच्छा है कि मैं अपने आपको ही समर्पित कर दूँ '।[4]

श्रवण कीर्तन और ईश्वर के प्रति अपना सब कुछ दान करने का विधान करते हुए वैदिक ऋषि कहता है कि जो कारण स्वस्य कर्ता नित्यनूतन विष्णु के लिए सब कुछ अर्पित करता है, जो महान विष्णु के जन्मादि का वर्णन करता है, श्रवण करता है वह गन्तव्य उत्तम पद को

१— ऋग्वेद — ३/६२/१०
२— ऋग्वेद — १/४४/११
३— ऋग्वेद — मण्डल १/ सूक्त पृष्ट ११०/६
(मैक्समूलर (सायण) वाल्यूम १, सूक्त ४, पृष्ठ ४३
४— ऋग्वेद ६/२९/३

प्राप्त करता है ।[1] इस श्रुति में स्पष्टतः दान, कीर्तन और श्रवण का विधान परमपद प्राप्ति के साधन के रूप में किया गया है। ऋग्वेद में एक ऋषि अग्नि को दीप्तिमान और अच्छा कहकर प्रणाम करता है।[2] एक अन्य ऋचा में ऋषि मनुष्यों को प्रणाम के साथ महान आदित्य को प्राप्त करने की सलाह देता है।[3]

इसी प्रकार ऋग्वेद में अनेक ऐसे सैकड़ों स्थल हैं, जहाँ ऋषिगण अपने आराध्यों के लिए नमस्कार करने का विधान करते है ।[4]

दास्य भक्ति के बीज भी ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं ।[5] एक मन्त्र में ऋषि ईश्वर की उसी प्रकार सेवा करने की इच्छा करता है, जिस प्रकार मृत्यु अपने स्वामी की ।[6] इस श्रुति में बन्धु शब्द के द्वारा वैदिक ऋषि विष्णु के साथ बन्धुभाव को स्थापित करता है, इस बन्धु भाव का ही रूप सख्य भाव भी है, जिससे सख्य भक्ति को ग्रहण किया जाता है ।

ऋग्वेद की एक अन्य श्रुति तो स्पष्टतः सख्य भाव का विधान करती है, जिसमें ऋषि इन्द्र के साथ मित्रता की कामना करता है ।[7]

भक्ति के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त वैदिक ऋषि अपने आराध्य अग्नि, इन्द्र, आदित्य,

---

१— ऋग्वेद — १/१५६/२

२— उपरोक्त — ३/१६/६

३— उपरोक्त १/२६/१३

४— ऋग्वेद — ६/५१/८, ८/३६/५, १०/१६५/४, १/१२७/१, २/३८/९, ५/१/७, ५/८/४, ६/१५/८, ८/२२/१४ आदि।

५— ऋग्वेद ७/१००/३

६— ऋग्वेद १/१५४/५

७— ऋग्वेद १/१०१/५

रूद्र, वरूण, प्रजापति और विष्णु आदि के साथ कहीं माता पुत्र, कहीं पिता–पुत्र और कहीं पति–पत्नी भाव से भी तादात्म्य स्थापित करते हैं । ऋषियों की ये प्रार्थनाएँ सहज और सुन्दर हैं कि इनके भक्ति भावना रहित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । वैदिक ऋषि इन्द्र से पिता का ही नहीं माता का भी सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहता है –

"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो वभूविथ अथा ते सुम्नमीमहे ।[१]

इस प्रकार एक अन्य स्थल पर इन्द्र को पितरों में सर्वश्रेष्ठ पितृतमः पितृणाम् कहा गया है ।[२]

अग्नि को एक स्थल पर मनुष्यों का माता–पिता कहा गया है ।[३] ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋषि कहता है कि जिस प्रकार से स्त्रियाँ अपने पति का आलिंगन करती है, उसी प्रकार मेरी बुद्धियाँ ऐश्वर्यशाली इन्द्र का अपनी रक्षा हेतु आलिंगन कर रही हैं।[४]

<u>यजुर्वेद –</u> यजुर्वेद में यज्ञ–कर्म का प्राधान्य है, और उसका विस्तार पूर्वक वर्णन है किन्तु इसके अनेक मन्त्रों में विष्णु–स्तवन, ईश्वरोपासना, अवतार भावना आदि के सूत्र मिलते हैं -- " इस गोपति के अधीन अनेक वस्तुएँ ध्रुव बनी रहें, और वह यजमान के पशुओं का पालन करें ।[५] यह यजुर्वेद का सर्वप्रथम मन्त्र है । इसमें ईश्वर को गोपति कहा गया है ।

<u>सामवेद</u>– सामवेद का प्रमुख विषय उपासना है, वैदिक ऋषियों के उल्लासपूर्ण तपःपूत मुक्त कष्टों से ईश–स्तुति के जो मधुर गान स्वच्छन्द निर्झर की भाँति फूट पड़े हैं, उनका रस अलौकिक है । यह भक्ति रस सामवेद के मन्त्रों में सर्वत्र विद्यमान है ।

१– ऋग्वेद – ८/९/११
२– ऋग्वेद ४/१७/१७
३– ऋग्वेद – ६/१/५
४– ऋग्वेद – १०/४३/१
५– यजुर्वेद – १/१

भक्ति रस के पिपासुजन उपनिषदों और सूरदास, कबीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्ति रस प्राप्त करते हैं, उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थ दर्शक भक्ति रस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें ।[१] सामवेद के अनेक मन्त्र भक्तिस्तुति परक है । जैसे—हम भक्त हृदय से इष्टदेव का संगम करें ।[२] ऋग्वेद में भी यह मन्त्र है । वे शिशु रूप में उत्पन्न हरि की स्तुति करते हैं ।[३]

इन मन्त्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि भक्ति का स्वरूप बड़ा ही भव्य, विशुद्ध और मधुर है ।

<u>अथर्ववेद</u> – अथर्ववेद में परमेश्वर के विषय में बड़े आश्चर्यजनक वर्णन है । इसके कई अंशों को आधार मानकर उपनिषदों का विस्तार हुआ है । केनोपनिषद का आधार अथर्ववेद का केनसूक्त ही है । अर्थववेद में आत्मज्ञान, ईश्वरोपासना, मुक्ति साधना, ईश्वर भक्ति, लीला और उपासना सम्बन्धी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है । उदाहरणस्वरूप "जो ईश्वर आत्मशक्ति दाता और बलदाता है, तथा समस्त देवता जिसकी आज्ञा की उपासना करते हैं ।"[४]

इस मन्त्र में परमेश्वर की उपासना का उल्लेख है ।

इस प्रकार भक्ति के समस्त अवयव जो पौराणिक काल में विकसित हुए, वेदों की अनेकों ऋचाओं और सूक्तों के बीज रूप में उपलब्ध होते हैं ।

१— जयदेव शर्मा – "सामवेद संहिता" के आलोक्य भाष्य की भूमिका – पृष्ठ —२

२— ऋग्वेद – ७/८१/२

३— सामवेद – मंत्र संख्या १३३४

४— अथर्ववेद – ४/२/१

<u>ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति का स्वरूप</u> –

ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों की सविस्तार विवेचना और व्याख्या है । किन्तु ब्राह्मण युग में ऋग्वेद के समय का भक्तिभाव कम हो चला था ।[1] दर्शन और धर्म दोनों से छूटकर आर्यो की रूचि कर्मकाण्ड में बढ़ने लगी थी । अतः ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की स्तुतियों से भरे पड़े हैं ।[2]

इन ब्राह्मण ग्रन्थों की भक्ति विषयक विशेषता यह है कि इनमें जप का विधान किया गया है । जप निश्चित रूप से परवर्ती भक्ति का अंग है । जय के विधान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति के विकास की पुष्टि होती है ।

ऐतरेय ब्राह्मण जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है के २५वें अध्याय के सप्तम खण्ड में ओउम् की उत्पत्ति और अनेक जप की महत्ता का वर्णन किया गया है । यहीं नहीं ध्यान का विधान ऐतरेय ब्राह्मण में हुआ है, जिसके अनुसार जिस देवता को हवि प्रदान की जाती है, उसका ध्यान करना चाहिए ।

यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण में यज्ञीय कर्मकाण्डो की बहुलता है । किन्तु भक्ति साधना के अनिवार्य अंग, सबसे प्रेम करना, द्वेष रहित होना, प्रणव तथा अन्य मन्त्रों का जाप, शुचिता, दिव्यता और अक्रोध आदि का यत्र–तत्र उल्लेख हुआ है । शतपथ ब्राह्मण में गायत्री की प्रशंसा और जप का विधान है ।[3] प्रेम भक्ति का मूल तत्व है । शतपथ ब्राह्मण में देवों के प्रिय होने की बात कही गयी है ।[4] देवों के प्रिय होने के लिए नमस्कार या प्रणति का विधान शतपथ ब्राह्मण करता है ।[5]

१– डा० राधाकृष्णन–'हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी' (भाग १ पृष्ठ १२५)
२– डा० देवराज – "भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास" (पृष्ठ ५७)
३– शतपथ ब्राह्मण ४/२/३/११
४– शतपथ ब्राह्मण २/३/२/३४
५– शतपथ ब्राह्मण ३/२२

सामवेद से सम्बन्धित आर्षेय ब्राह्मण में ओउम् की महत्ता का विधिवत् वर्णन किया गया है ।[1]

आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार प्रमाद रहित होकर अपनी कामना को ध्यान में रखते हुए प्रभु के समीप ध्यान द्वारा तन्मय भाव से स्तुति करनी चाहिए । ध्यान और स्तुति स्पष्टत: भक्ति के अंग है ।[2]

गोपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर सामवेद को वेदों का रस कहा गया है ।[3] सामवेद उपासना काण्ड का वेद है । उपासना और भक्ति दोनों का अर्थ एक ही है। अत: गोपथ ब्राह्मण के उक्त कथन से भक्ति की व्यापकता और महत्ता सुस्पष्ट हो जाती है ।

ब्राह्मणों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है यज्ञीय कर्मकाण्ड । यज्ञों के निष्पादन में श्रद्धा का अति महत्वपूर्ण स्थान है । श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि को कहते हैं । आस्तिक्य बुद्धि से अभिप्राय परब्रह्म शब्द से कहे जाने वाले वासुदेव भगवान ही सम्पूर्ण जगत के आधार है और सम्पूर्ण वैदिक कर्म उन्हीं की आराधना के निमित्त है, वे ही वैदिक कर्मो से आराधित किए जाने पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप में फल प्रदान करते हैं । इस अर्थ की सत्यता का निश्चय करने वाली बुद्धि ही आस्तिक्य बुद्धि है ।[4] श्रद्धा के अभाव में सम्पूर्ण वैदिक कर्म निष्फल और व्यर्थ हो जाते हैं। श्रद्धा और प्रेम का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । जहाँ श्रद्धा रहती है, वहाँ प्रेम अवश्य रहता है। किन्तु प्रेम के स्थलों पर श्रद्धा का रहना अनिवार्य नहीं है । महनीय विषयक प्रेम ही भक्ति है। अत: यज्ञीय कर्मकाण्डों में विद्यमान श्रद्धा का ही विकसित रूप भक्ति है ।

१— आर्षेय ब्राह्मण — प्रथम प्रपाठक
२— आर्षेय ब्राह्मण — १/३/१३
३— गोपथ ब्राह्मण भाग—२ प्रपाठक—५ कण्डिका—६
४— रामानुजगीता भाव्य १८/४२

ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति :

प्राचीनतम् वैद ऋग्वेद से सम्बन्धित होने के कारण 'ऐतरेय' ब्राह्मण का स्थान भी अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है। भागवत सम्प्रदाय के आराध्य विष्णु को सर्वप्रथम सम्मानित पद देने का श्रेय इसी ब्राह्मण को है जिसने प्रारम्भ में ही यह घोषणा की —

ओउम् अग्निवै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता.

किन्तु इसका कदापि यह अर्थ नही है कि अग्नि हेयतम देवता है और विष्णु श्रेष्ठतम।[1] सम्भावना तो इस बात की भी हो सकती है कि ये दोनों देवता दो वर्गो के देवताओं—पार्थिव व आकाशीय देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे अपने वर्ग के स्थानीय देवताओं को अपने में समेटे हुए हैं। 'शतपथ' ब्राह्मण ने तो ऋग्वेदिक विष्णु को और भी ऊँचा पद देने की चेष्टा की और उसने इनके तीन वर्गो की कथा को इतना विस्तार पूर्वक प्रचारित किया कि अब विष्णु के तीन पद ऋग्वेद के अनुसार (इदं विष्णुविचक्रमे त्रेधानिदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे) सूर्य की दैनिक परिक्रमा के तीन स्थानों—उदय, मध्य और अन्त न रह कर (और्णवाम की व्याख्या के अनुसार जिसे शाकपूणि की भाँति जिसने ऋग्वेदिक विष्णु को अर्वाचीन दृष्टि से नहीं देखा है) तीन लोक—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बन्धित हो गये । इस प्रकार उक्त ब्राह्मण ने विष्णु को अन्य देवताओं की अपेक्षा महत्व प्रदान करने में 'ऐतरेय' ब्राह्मण को योगदान दिया। फिर भी हम डा० कीथ (जे०आर०ए० सो० १९१५, पृ० ८३९) के इस मत में पर्याप्त सत्यता पाते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु का सम्बन्ध यज्ञों से है और उन्हें सर्वोच्च देवता मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के 'कृतस्य गर्भ' विष्णु ब्राह्मण के भी 'यज्ञो वे विष्णुः' ही रहते हैं। किन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि इसके लिए रामानुज की प्रतीक्षा थी और

---

१. अग्नि और विष्णु (ऋग्वेद के द्योस्थानीय देवता) इन दोनों देवताओं द्वारा धरती और आकाश और फिर अन्य देवताओं को इसी के बीच का बताना भी तो लक्ष्य हो सकता है।

उस पर ईसाई धर्म का प्रभाव अपेक्षित था जैसा कि कीथ ने उक्त लेख में ही पृष्ठ ८३६–३७ पर लिखा है। ऐसा लिखते समय कीथ ने न केवल तिथि–सिद्ध प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों की उपेक्षा की है प्रत्युत, जैसा कि हम आगे देखेंगे, उक्त विद्वान ने आभिलेखिक साक्ष्यों की भी अवहेलना की है। हम यहाँ केवल इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक और ब्राह्मण कालीन विष्णु पूजा तथा भक्तिधर्मान्तर्गत विष्णु पूजा में कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं दृष्टिगोचर होता है। कारण स्पष्ट है। भक्तिधर्मान्तर्गत भगवान की आराधना में दो तत्व प्राप्य हैं– पहला, आराध्य देव को महान करुणालय, सर्व शक्तिसम्पन्न एवं ऐश्वर्यशाली मानना तथा दूसरा तत्व है परानुरक्ति । इस दृष्टि से ब्राह्मण के विष्णु महान ऐश्वर्यशाली एवं सर्वशक्तिमान नहीं हैं। इन्हें बहुत अधिक बढ़ावा देने वाला 'ऐतरेय' ब्राह्मण भी 'देवानाम द्वारपाह' (ऐ०ब्रा० १.३०) कह कर इन्हें सर्वशक्तिसम्पन्नता और श्रेष्ठता से कई सीढ़ी नीचे ही खड़ा करता है।

पर ब्राह्मणों में कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनसे परवर्ती शास्त्रकारों को कथा विस्तार का सूत्र प्राप्त हुआ और आधुनिक पण्डितों को ब्राह्मण ग्रन्थों को पौराणिक दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिली है। 'विष्णु: परम:' और 'विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा ' कुछ ऐसे ही कथन हैं। ब्राह्मणों में भक्ति तत्व के खोजियों ने यही से कदम बढ़ाया है । तत्पश्चात वैदिक युगीन विष्णु के तीन वर्गो द्वारा संसार माप लेने का (पृ० १/१५४/२) और वामनावतार का तुक मिलाया गया है जो पर्याप्त अंशों तक मिल भी गया है। विष्णु के तृविक्रम (जो महाभारत युग तक तो वासुदेव का पर्याय बन जाता है) के सम्बन्ध में स्वयं प्राचीन व्याख्याकारों का मत वैभिन्न भी दृष्टव्य है और तब उसी संदर्भ में तीन डगों में धरती माप लेने वाली कथा का सूत्र भी देखना होगा । निश्चय ही वामन वाली कथा का 'अवतार विशेष' के रूप में विकास में विकास ब्राह्मण युग की देन नही है, इसके लिए 'जय भारत' या 'महाभारत' का युग आने वाला था । पुराणकारों की प्रतीक्षा थी। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में पहले वराह, नृसिंह, वामन, भार्गव राम (परशुराम), दाशरथि राम तथा वासुदेव कृष्ण इन छ: अवतारों की बात कही गई है और आगे हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि

अवतारों को जोड़ कर दशावतार का भी उल्लेख कर दिया गया है। हरिवंश पुराण भी केवल छः अवतारों का ही उल्लेख करता है।[1] वामन अवतार की भांति वराह, मत्स्य तथा कूर्म आदि अवतारों के बीज भी ब्राह्मण ग्रन्थों में खोजे गये हैं। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि परवर्ती ग्रन्थकारों ने जब अवतारों की कल्पना की और विष्णु को सर्वोपरि सिद्ध करने की चेष्टायें होने लगी तो सभी महत्वपूर्ण कार्यों का श्रेय विष्णु को दिया जाने लगा । साथ ही अपने मत को श्रुति सम्मत भी बनाने की सजग चेष्टा की गई। फलत: वैदिक कथाओं को ही आधार बनाना पड़ा । हम अपने इस मत के समर्थन में वराह अवतार को ले सकते हैं। वराह अवतार का बीज ऋग्वेद में देखें —

'विश्वेत ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्तवेषित: ।

शतं महिषान् क्षीरपाकमोदन वराहमिन्द्र एमुषम ।। पृ० ८/७७/१०

यहाँ इन्द्र वराह का वध करते हैं। पर शतपथ ब्राह्मण (१४/१/२/११) में ही कथा परिवर्तन की ओर झुक जाती है और वहाँ एमुष नामक वराह पृथ्वी को ऊपर उठा लेता है । फिर तैत्तरीय संहिता (६/२/४/२/३) में भी यही कथा आती है। पर जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है, विष्णु को महत्व प्रदान करने का ध्येय सदा सामने रहता है और निश्चय ही यह किसी वर्ग विशेष की चेष्टा थी क्योंकि 'तैत्तरीय संहिता' वाला वराह प्रजापति का रूप था (७/१/५/१) जब कि पुराणों का वराह विष्णु का रूप है और ऋग्वेद का एमुष वराह । अब हम बीज और शाखाओं एवं बल्लियों को भली—भाँति समझ सकते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ब्राह्मणकालीन कथाएँ अवतारों के उद्देश्य से नहीं कही गई है प्रत्युत पुराणकारों ने अवतारों का मेल ब्राह्मण कालीन कथाओं से मिलाने की चेष्टा की है । एक दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है। वासुदेव तथा नारायण का उल्लेख सर्वप्रथम क्रमश: 'तैत्तरीय' आरण्यक तथा शतपथ

---

१. *इस प्रकार डा० भण्डारकर का महाभारत के उस अंश को जिसमें चार (हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि) अवतारों का उल्लेख है, प्रक्षिप्रांश मानने का पूर्ण आधार प्राप्त होता है।*

ब्राह्मण में मिलता है, इसके पूर्व नहीं, किन्तु 'शतपथ' ब्राह्मण के 'नारायण' का कोई सम्बन्ध विष्णु से नहीं है (राय चौधरी पृ०९) और यह सम्बन्ध सर्वप्रथम प्रत्तिरीय आरण्यक में ही स्थापित किया जाता है। उसी समय तक ('तैत्तरीय' आरण्यक के रचना—काल तक) दोनों नाम मिलकर एक ही देवता के बोधक भी बन जाते हैं किन्तु यह 'खिल रूप' अर्थात बाद का जोड़ा हुआ अंश है। संहिता ब्राह्मण या उपनिषदों में कहीं भी विष्णु को वासुदेव नहीं कहा गया है। नारायणाय विध्य है वासुदेवाय धीमही तन्नो विष्णु: प्रचोदयात । ('तैत्तरीय' आरण्यक दशम प्रपाठक) किन्तु जैसा कि डा० राय चौधरी का मत है विष्णु अब भी किसी भी आर्य समूह द्वारा सर्व श्रेष्ठ देवता के रूप में नहीं स्वीकृत हुए थे ।

महाभारत विष्णु की ऋग्वैदिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए वासुदेव कहलाने का कारण बताता है कि मैं वासुदेव इसलिए कहलाता हूँ कि अपनी या अन्य दिव्य प्रभा से सभी प्राणियों को ढके रहता हूँ । सूर्य के रूप में अपनी किरणों द्वारा समस्त विश्व को ढक लेता हूँ। सभी प्राणियों का एक मात्र आश्रय होने से मैं वासुदेव कहलाता हूँ । इसी सूत्र को पुराणकारों ने आगे बढ़ाया था । किन्तु यह भी ठीक है कि लोक जीवन चुपचाप बैठा न था क्योंकि जब उसमें कर्मकाण्डों और तत्सम्बन्धी अनेकानेक कथाओं का प्रचलन हो चुका था तो वह स्वयं भी देवताओं के नाना महत्कार्यों की कल्पना करता रहा होगा । विशुद्ध लोक साहित्य के अभाव में हम कुछ निश्चयपूर्वक भले ही न कह सके पर 'महाभारत' जो शताब्दियों की धार्मिक लौकिक कथाओं का विश्वकोष है हमें कुछ इसी प्रकार से सोचने की प्रेरणा देता है।

अवतारों के अतिरिक्त भक्ति के अन्यान्य तत्वों की खोज भी ब्राह्मण ग्रन्थों में ठीक उसी पद्धति पर की गई है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में भक्ति तत्व के सम्बन्ध में किया गया था । यहाँ भी जप, ध्यान, गुण—गान आदि सम्बन्धी स्तुतियाँ खोजी जाती है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि ब्राह्मणों में भी भक्ति का विकसित रूप प्राप्त होता है। एक पण्डित ने तो शतपथ ब्राह्मण की, यजुर्वेद के मंत्रों एवं शब्दों की व्याख्या को देख कर इसे 'शब्द भक्ति'

घोषित किया है। यह के विधि–विधानों को सविस्तार प्रकाशित करने वाले ग्रन्थ में भक्ति का प्रचार ढूँढना तक सम्मत नहीं लगता । ज्ञान या कर्मकाण्ड सम्बन्धी ग्रन्थ यदि सच्चरित्रता, सदाचार शुद्धता, नैतिकता आदि का पाठ पढ़ायें और हमें इसे 'भक्ति–काण्ड भी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत' करना स्वीकार कर लें तो फिर इसे 'भक्ति का विकास' ही क्यों कहते हैं 'सर्वधर्म–विकास' की संज्ञा क्यों नहीं देते। ब्राह्मण ठीक अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और यह उद्देश्य है वैदिक, यज्ञीय कर्मकाण्ज्ञों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन जिसमें ज्ञान की आवश्यकता पड़ ही जाती है।

ब्राह्मणों ने कर्मकाण्डों के विषय में जो सहयोग दिया, वह सराहनीय है।

आरण्यकों में भक्ति –

आरण्यक ग्रन्थों का भी वेदों और ब्राहमण ग्रन्थों से सम्बन्ध है और उसमें अरण्यवासी ऋषियों का तत्व चिन्तन है । चिन्तन भी भक्ति का ही एक प्रकार है।

ब्राहमण और आरण्यक ग्रन्थों में अवतारों का उल्लेख मिलता है । शतपथ ब्राहमण में मत्स्यावतार का उल्लेख है ।[१] तैत्तरीय[२] आरण्यक और शतपथ ब्राहमण में [३] कूर्मावतार का वर्णन है ।

तैत्तरीय ब्राहमण[४] और शतपथ ब्राहमण में [५] बाराहवतार का उल्लेख है ।[६]

निष्कर्ष यह है कि ब्राहमण आरण्यक ग्रन्थों में अवतार भावना स्पष्ट रूप से विद्यमान है ।[७] और उनमें अनेक प्रकार की स्तुतियों का भण्डार है ।

वेदों के संहिता भाग और ब्राहमणों में की गई प्रार्थनाएँ, स्तुतियाँ और यज्ञीय कर्मकाण्ड का विनियोग विभिन्न देवताओं को उदिष्ट करके किया गया है । इन्हीं प्रार्थनाओं, स्तुतियों द्वारा

१– *शतपथ ब्राह्मण १/८/१/२–१०*
२– *तैत्तरीय आरण्यक १/२३/१*
३– *शतपथ ब्राह्मण – १/४/३/५*
४– *तैत्तरीय ब्राह्मण १/१/३/५*
५– *शतपथ ब्राह्मण १४/१/२/११*
६– *शतपथ ब्राह्मण १/२/५/१–७*
७– *डा० हरवंशलाल शर्मा – "सूर और उनकी साहित्य" पृष्ठ १६७*

कर्मकाण्डों के मध्य भक्ति तत्व के रत्न यत्र–तत्र विखरे पड़े हैं । पौराणिक काल की भक्ति एक सर्वोच्च सत्ता विष्णु के प्रति ही विहित है, औपनिषद भक्ति भी एक सर्वोच्च सत्ता के विचार से अनुप्राणित है । परवर्तीकाल की यह एकेश्वरवादी प्रवृत्ति भी वेदों के संहिता भाग एवं ब्राह्मण आरण्यको में बीज रूप में विद्यमान है । यह किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं अपितु वेदों में बीज रूप से विद्यमान विकास का फल है । ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है कि तत्व एक है, जिसे विप्रगण अग्नि, यम और मातरिश्वा के नाम से अभिहित करते हैं ।[1] ऋग्वेद और यजुर्वेद के मध्य समान रूप से विद्यमान सम्पूर्ण पुरूष सूक्त, प्राणिमात्र से एकात्मा के अस्तित्व पर बल देता है और विष्णु को सर्वोच्च देव के फल में प्रतिष्ठापित करता है । एक अन्य ऋचा में विष्णु को सर्वोच्च स्थान कहा गया है, जिसकी आचार्यगण प्राप्ति और दर्शन की इच्छा करते हैं ।[2] ऋग्वेद में विष्णु के अन्य सूत्रों में भी विष्णु की सर्वोच्चता के आधार वस्तुत: संहिताओं में वर्णित विष्णु की यही सर्वोच्चता है ।

१– ऋग्वेद – १/१६४/४३
२– ऋग्वेद – १/२२/२०

उपनिषदों में भक्ति –

ब्राह्मण तथा आरण्यकों के पश्चात उपनिषदों के युग तक आते–आते भक्ति भावना का सूत्रपात होने लगा था । डॉ० भण्डारकर ने भागवत धर्म के वेद, 'गीता' (उनके अनुसार ४०० ई०पू० की रचना) के धर्म के साधनों का मूल उपनिषदों को बताते हुए उनमें भक्ति का स्रोत देखा है । वृहदारण्यक उपनिषद में आत्मा को पुत्र–कलत्र से भी प्रियतम तथा उसी उपनिषद में पुत्रेषणा–वितेष्णा आदि की कामना छोड़कर आत्मा को प्राप्त करने की चर्चा को तथा अनेकानेक उपनिषदों में ध्यान की बात को वे भक्ति के पक्ष में लेते हैं [१] और जोरदार शब्दों में घोषणा करते हैं कि यद्यपि उपनिषदों में भक्ति शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है तथापि उनके प्रिय और प्रेयस का अर्थ भक्ति–पूरक ही है । भक्ति की परम्परा को उन्होंने काफी पीछे तक पहुँचाया है । वासुदेव तथा नारायण का समीकरण करके और फिर अन्त में विष्णु से इनकी समता स्थापित करके उन्होंने प्रथम प्राचीन काल में वैदिक विष्णु सम्बन्धी धर्म–साधना, द्वितीय पार्थिव दार्शनिक देवता नारायण सम्बन्धी धर्म–साधना एवं तृतीय वासुदेवोपासना इन तीन धर्म साधनाओं के एकीकरण द्वारा परवर्ती वैष्णव धर्म (पौराणिक वैष्णव धर्म) का निर्माण स्वीकार किया है पर उन्होंने भी गोपाल कृष्ण और विशेषतया गोकुल के बाल गोपाल की विभिन्न लीलाओं को जिन्हें हमारे कृष्ण भक्त कवियों ने अपनी भक्ति और साहित्य का एकमात्र आधार बनाया था, से ईस्वी सन् के पूर्व तक अपरिचित बताया है । इनके अनुसार पाणिनी के युग के पूर्व भी भक्ति का उदय हो चुका था । इन्होंने भी ऋग्वैदिक ऋचाओं में माता–पिता सम्बन्धी सम्बोधनों की ओर संकेत किया है और उनमें भक्ति का लक्षित होना बताया है, जिससे हम सहमत नहीं हो सकते हैं, उपनिषदों– विशेषतया परवर्ती

१– वृहदारण्यक उपनिषद १/४/८, ४/४/२२

श्वेताश्वेतर उपनिषद से तो हम निश्चित रूप से भक्ति का उदय मानेंगे और यहीं इस साधना पद्धति को रूप प्राप्त होना स्वीकार करेंगे ।

वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत उपनिषदों की गणना अन्त में होती है । उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है । जिसके पीछे मूल भावना यह है कि उपनिषदों के साथ ही वैदिक युग का अन्त हो जाता है । वेदो के संहिता भाग वेदो और आरण्यकों के मध्य भक्ति की जो धारा शनैः—शनैः बह रही थी, उसे उपनिषदों ने गति प्रदान की ।

उपनिषदों की संख्या अनन्त है, उपनिषद कार अगणित है । रचना काल भी लम्बी अवधि का है । अतः सभी उपनिषदें एक मत नहीं है जहाँ कुछ उपनिषदें वैदिक कर्मकाण्डों की पूर्ण उपेक्षा करती हैं, वहीं कुछ अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती हैं, जिसे निर्गुण ब्रह्म की उपासना की संज्ञा दी गई है । हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं कि प्राचीनभागवत सम्प्रदाय को उपनिषदों ने बहुत अधिक प्रभावित किया है । गीता स्वंय इसका बड़ा प्रमाण है जिसमें कृष्ण ने छांदोग्य उपनिषद में सीखे हुए ज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया है । गीता की तिथि विद्वानों ने ४००ई० पूर्व स्वीकारकी है पर कृष्ण की तिथि बुद्ध के बहुत पूर्व पड़ती है, अतः (गीता) कृष्ण के बाद की रचना होते हुए भी यह प्रमाणित करती है कि उस युग में ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय की चेष्टा हो रही थी ।

पराभक्ति का सर्वप्रथम महत्व सूचित करने वाली उपनिषद है श्वेताश्वेतर —

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

यस्येते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ति महात्मन : ।[1]

उसी उपनिषद में "मुमुक्षर्वे शरणमहं प्रपद्ये" कहकर शरणागति भाव की ओर स्पष्ट संकेत

१— *श्वेताश्वेतर ६/२३*

किया गया है । जिस युग की बात की जा रही है, वह क्षत्रिय प्रधान युग था । धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में समान रूप से क्षत्रिय समाज का नेतृत्व कर रहे थे । कृष्ण महावीर तथा गौतम आदि द्वारा रूढ़िगत धर्म में जो नई भाव धारा प्रवाहित की जा रही थी, उससे उपनिषदों का कोई विरोध न था, विरोध यदि था तो उन धर्म स्रोतों से ही जिनसे स्वंय नवोदित मतों का भी विरोध था । वस्तु स्थिति से तो यह ज्ञात होती है कि उपनिषदों को आत्मान्वेषण की प्रेरणा जिन सूत्रों से मिली थी, उन्हीं सूत्रों तथा परिस्थितियों ने जैन बुद्ध और भागवत धर्म को भी उत्प्रेरित किया था । भक्ति का जो रूप भक्ति विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थों ''महाभारत'' ''गीता'' में मिलता है वह उपनिषदों की ध्वनि से पर्याप्त साम्य रखता है । उपनिषदों की भक्ति में आडम्बर नहीं है, अर्न्त साधना पर अधिक बल है, सत्यान्वेषण की जिज्ञासा है और इनमें सर्वोपरि है, गुरू का महत्व जिसके बिना ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता ।[1] गुरू के महत्व को सभी धर्म सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, यह निर्विवाद सत्य है और जहाँ उपनिषदों ने गुरू के महत्व को बढ़ाया है, वहीं वे सगुण पूजा को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करके भक्ति भाव का सुदृढ़ीकरण ही करती है । यहाँ छान्दोग्य उपनिषद सप्तम प्रपाठक की कुछ बातें विशेष उल्लेखनीय हैं । नारद सनत कुमार के पास जाकर कहते है कि मुझे शिक्षा दीजिए । सनत कुमार पूछते हैं कि अब तक आपने कौन—कौन सी विद्याएँ सीखी हैं पहले यह बताइए, तब मैं आपको सूचित करूँगा कि इसके इतर क्या है । तदुपरान्त नारद पढ़े हुए ग्रन्थों एवं उन सीखी हुई विद्याओं का उल्लेख करते हैं —

१— गुरू के महत्व को सभी मतावलम्बी स्वीकार करते आ रहे हैं 'धरमपद नवसूत्र' में लिखा है—

जिस प्रकार देवता इन्द्र की पूजा करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को अपने धर्मगुरू की पूजा करनी चाहिए। आगे गुरू के गुणों पर लिखा है —

'जिस व्यक्ति ने धर्म को नहीं समझा है, धर्म के रहस्यों का श्रवण नहीं किया है, जिसने शंकाओं पर विजय नहीं प्राप्त कर ली है, वह भला दूसरों को क्या उपदेश देगा। (छान्दोग्य उपनिषद सं० १४), कठोपनिषद (१/२, ७—९) श्वेताश्वेतर (६, २३) आदि ग्रंथ गुरू के महत्व को बढ़ाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

''ऋग्वेद'', ''यजुर्वेद'', सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, पितृ, रासि, देव, निधि एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षात्रविद्या, नक्षत्र विद्या सर्प तथा देवजन विद्या आदि । किन्तु इन सब विधाओं के ज्ञाता होते हुए भी नारद ने कातर स्वर में स्वीकार किया है कि मैंने केवल मंत्रों को पढ़ा है, आत्मा से परिचित नहीं हूँ । वे सनत कुमार से अनुरोध करते हैं, कि वे उन्हें आत्मा से परिचित कराएँ क्योंकि तभी दु:ख का अन्त होगा ।[१] यहाँ एकायन विद्या हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, ईश्वर संहिता (१/१८) में वैष्णव सम्प्रदाय का ही दूसरा नाम एकायन कहा गया है। क्योंकि मोक्ष–प्राप्ति का यही एकमात्र अयन या साधन है। अत: यहाँ नारद को सनत कुमार से भक्ति का उपदेश लेना किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं होता जैसा कि कुछ विद्वानों ने सिद्ध करने की चेष्टा की है। नारद को इस विषय का ज्ञान पहले से ही था, फिर सनत कुमार उन्हें जो उपदेश देते हैं, उसमें भी भक्ति के सिद्धान्तों की ही चर्चा नहीं हे। वे नारद से नाम, वाक्, मन, संकल्प, बल, अन्न, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, स्मरण, प्राण आदि अनेक तत्वों का ध्यान करने को कहते हैं, क्योंकि इसी साधना से कोई अतिवादित हो सकता है। अत: केवल उक्त ध्यान से भक्ति परक उद्देश्य नहीं लिया जा सकता है।

यहाँ इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना होगा कि नारद एक ऐसे पात्र हैं, जिन्हें हर युग में हर ग्रन्थकार ने सभी शंका समाधानों सिद्धान्त निरूपणं एवं भाव प्रकाशन या रहस्योद्घाटन का माध्यम बनाया है। अत: इनका तिथि निर्धारण ग्रन्थों पर नहीं किया जा सकता । नारद पांचरात्र नारद भक्ति सूत्र अथवा महाभारत के नारद आदि को हमें तिथि क्रम की उपेक्षा करते हुए ही ग्रहण करना पड़ेगा । पुन: कठोपनिषद के कुछ मंत्र निश्चित रूप से भक्ति भावना को उत्प्रेरित करते

१— मैक्समूलर ने इस कथन पर शंका प्रकट की है कि वेद को जानने वाला आत्मा को क्यों नहीं जानेगा, क्योंकि अन्यत्र इसका उल्लेख है कि वेद से आत्मा का बोध होता है।
(सकरेन्ड बुक्स, प्रथम खण्ड पृष्ठ ११०)

हैं।[1] इन्हीं भावनाओं को मुण्डक द्वारा बल मिलता है, और उपासक तथा उपास्य के निकट सम्बन्धों की भूमिका सृजित होने लगती है।[2] पर इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान श्वेताश्वेतर उपनिषद का है, जिसने सगुण का मार्ग अप्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद ६/१८ से हमें सगुण ब्रह्म की झलक मिल जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी उस सर्वशक्तिमान सृष्टिकर्ता परमात्मा की कल्पना की जाने लगी थी, जो अव्यक्त के साथ–साथ व्यक्त भी है, उसकी उदारता, दयालुता आदि की भी कल्पना की गई थी, जिससे भक्ति का अंकुर पल्लवित होने का अवसर मिला । बस यहीं से हम भक्ति का उद्भव मान सकते हैं । भक्त को भगवान के जिस रूप की आवश्यकता थी, उसकी कल्पना कुछ प्राचीन उपनिषदों में ही की जा चुकी थी, और परवर्ती उपनिषदों में इस कल्पना को और आगे बढ़ाया गया था। उनकी ईश्वरवादिता का ही क्रमिक विकास सगुण ब्रह्मवाद है। वास्तविकता यह है कि अनेक उपनिषदों ने लोकमत को मान्यता प्रदान करने की चेष्टा की है, यद्यपि हमें तत्कालीन लोकमत का कोई पृथक विवरण नहीं प्राप्त है, तथापि इतना तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उपनिषद युग तक आते–आते मध्यदेश में आर्यों तथा अनार्यों का सम्मिश्रण एवं निकट सम्बन्ध स्थापित हो चुका था, और उनका सांस्कृतिक जीवन पर स्वर प्रभावित होता जा रहा था । यह जीवन निश्चय ही सर्वश और सर्वधा शास्त्रोक्त विधि से अनुशासित नहीं रहा होगा । साथ ही स्थानीय देवताओं से लोक जीवन के अपेक्षाकृत निकट का सम्बन्ध रहा होगा, जिसमें भावनाओं तथा संवर्गो का अंश अधिक होता है । शास्त्र प्रणेताओं को लोकमत के साथ निश्चय ही कहीं–कहीं चलना पड़ा है । यही कारण

१– *कठोपनिषद १/३/१५, २/२/९, ११, १/३/१, २/३/४, १/३/१२, १/२/१६, २/२/३, १/२/८–९, १/३/१४ आदि*
२– *मुण्डक १/१/६, ३/२/८, ३/१/३, ३/१/१–२, २/१/१ आदि*

है कि कुछ उपनिषदों में जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, ईश्वर के व्यक्त तथा अव्यक्त एवं उपास्य रूप की ओर संकेत किया गया है ।

अत: उपनिषद् युग जिसे हम १०वीं या ९वीं शताब्दी ई०पू० सरलता पूर्वक मान सकते हैं, भक्ति के उद्भव का युग है ।

उपनिषदों के चिन्तन में ऐसे सूत्र प्राप्त होते है, जिनमें भक्ति भावना के आरम्भिक संकेत दिखाई देते हैं और जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति तत्व यहाँ विद्यमान है, विशेषतया अपने उपासना भाव में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भक्ति के विकास पर विचार करते हुए उपनिषदों के कर्मपरक ज्ञानमार्ग से भक्ति का उदय मानते है, क्योंकि यहाँ बुद्धि, हृदय दोनों का योग है । उनके अनुसार कर्म के साथ मन का योग भक्तिभावना का प्रारम्भ है ।[1] आचार्य रामानुज ने वेदन, उपासन, ध्यान और त्याग को भक्ति का पर्याय माना है । रामानुज की इस मान्यता के कारण उपनिषदों में भक्ति का क्षेत्र व्यापक बन जाता है । उपनिषदों में सर्वत्र परमपुरूषार्थ ब्रह्म की प्राप्ति कहीं ज्ञान द्वारा, कहीं उपासना द्वारा, कहीं त्याग और ध्यान द्वारा कही गयी है ।

श्वेताश्वेतरोपनिषद में परमात्मा की भक्ति के साथ ही साथ गुरू की भक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है । भक्ति का मूल स्वरूप अपने अहम का विसर्जन करके ईश्वर की शरण में जाना है ।

भक्ति का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण अवयव है – ईश्वर की कृपा । रामानुज सहित समस्त वैष्णव आचार्य ''प्रसाद'' के इस सिद्धांत के पोषक हैं । इसके अनुसार ईश्वर की कृपा से भक्ति के मनोरथ की पूर्ति होती है । उक्त ईश्वरीय अनुग्रह का सुस्पष्ट उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद

१– रामचंद्रशुक्ल – सूरदास, पृष्ठ १२–१८

में हुआ है ।[1] कठोपनिषद में भी केवल ज्ञान आदि का निषेध करके ईश्वर कृपा को ही ईश्वर प्राप्ति में साधन माना है ।[2] मुण्डकोपनिषद में कठोपनिषद का यही भाव यथावत कठोपनिषद के ही शब्दों में निबद्ध है।[3]

उपनिषदों में ज्ञान को अनेक स्थानों पर मोक्ष का हेतु कहा गया है । तैत्तरीय आरण्यक का वचन है कि ब्रह्म को जानने वाला परम स्थान को प्राप्त करता है।[4] मुण्डकोपनिषद के अनुसार ''ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है ।[5]

श्वेताश्वेतरोपनिषद में स्पष्ट कहा गया है कि उस ब्रह्म को जानकर व्यक्ति संसार को पार कर जाता है ।[6]

इसी प्रकार उपासना का भी उपनिषदों में बहुश: उल्लेख हुआ है । वृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद् में प्राण, साम, गायत्री और प्रणव आदि अनेक उपासनाओं का वर्णन किया गया है । इन समस्त उपासनाओं में प्रणव अर्थात ओंकार की उपासना सर्वश्रेष्ठ है । प्रश्नोपनिषद में विषाद ओंकार की उपासना का वर्णन किया गया है ।[7] इसी उपनिषद में शाण्डिल्य विद्या का भी विधान किया गया है । जिसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि चक्र के कर्ता, पालक और विनाशक ब्रह्म की उपासना ब्रह्म भाव से करनी चाहिए ।[8]

१— *अणोरणीयान् महतो महीया*
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तो:।
नमक्रतु: पश्यति वीतशोको
धातु: प्रसादान्महिमानमीशम्। *(श्वेताश्वेतरोपनिषद ३/२०)*

२— *कठोपनिषद २/२३*

३— *मुण्डकोपनिषद ३/२/३*

४— *तैत्तरीय आरण्यक*

५— *मुण्डकोपनिषद ६/२/९ — 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैभवति।'*

६— *तमेव विदित्वाऽतिमृत्येमेति।*
(श्वेताश्वेतरोपनिषद ३/८)

७— *प्रश्नोपनिषद—२*

८— *छान्दोग्योपनिषद ३/१४*

भक्ति का एक आवश्यक उपादान श्रद्धा भी है । मुण्डकोपनिषद में श्रद्धा को तप के साथ–साथ अमृत पुरूष अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति का कारण कहा गया है । स्वाध्याय ज्ञान, तप और त्याग का भी भक्ति साधना में अपना विशिष्ट स्थान है । मुण्डकोपनिषद में इन तीनों के महत्व को ईश्वर प्राप्ति के निमित्त साधन स्वीकार किया गया है ।[1]

यहाँ भक्ति शब्द का प्रयोग तो हुआ ही है, कुछ अन्य संकेत भी हैं, जिनसे हम भक्ति भावना विवेचन में अग्रसर हो सकते हैं । इसमें एक परमदेव परमेश्वर की कल्पना है, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग के अनेक देवी देवता उपनिषदों के एकेश्वरवाद की विराट कल्पना में समाहित हो रहे थे, जिससे भक्ति–भावना को बल मिला । परमेश्वर के साथ ही महात्मा, महान आत्मा अथवा मनस्वी पुरूष की भी कल्पना की गई और उसमें श्रद्धा भावना का प्रवेश कराया गया ।

श्वेताश्वेतर उपनिषद के इसी अध्याय में लगभग पाँच छन्द पूर्व[2] उपनिषदकार परमेश्वर प्राप्ति का उपाय बताता है कि उन्हीं के शरण में चले जाना चाहिए । शरणागत की कल्पना भक्ति के एक अनिवार्य तत्व के रूप में आगे चलकर विकसित हुई ।

गोपीनाथ कविराज ने वैष्णव साधना और साहित्य पर विचार करते हुए यह धारणा व्यक्त की है कि ज्ञानयोग भक्तियोग का सहकारी है ।[3] अर्थात उपनिषदों के ज्ञान भाव से उसका अनुरेखन किया जा सकता है । डा० भण्डारकर ने यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि ऋचाकाल के अन्त में एक अधिक व्यवस्थित धार्मिक चिन्तन की स्थापना होने लगी थी, जिसका विकास उपनिषद काल में हुआ । विश्व में ईश्वर की अन्तर्व्याप्ति अथवा सर्वव्यापकता की कल्पना

१– *मुण्डाकोपनिषद ३/५*

२– *श्वेताश्वर उपनिषद ६/१८*

३– *गोपीनाथ कविराज – "भारतीय संस्कृति और साधना", पृष्ठ १९५*

उपनिषदों में बहुत स्पष्ट है, और आगामी धार्मिक विचारधारा तथा उपासना में इन उपनिषदों के मत से सक्रिय भाग लिया ।[1] यह कल्पना कि सभी देव एक हैं, और देव स्वंय को अनेक रूपों में प्रकट करता है। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें अवतारवाद की धारणा का उदय हुआ। रचनाकाल की दृष्टि से कठ, ईश, श्वेताश्वेतर, मुण्डक और महानारायण उपनिषद एक ही वर्ग में आते हैं।[2] यह आर्थवण उपनिषद है । इस उपनिषद् में परब्रह्म नारायण के निगुर्ण, सगुण, निराकार और साकार रूपों का विवेचन है । इसके साथ ही उपनिषद में अवतार, मीमांशा, वैष्णवी भक्ति और श्रीकृष्णोपासना का उल्लेख है ।

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि भक्ति के जो बीज वेदों के संहिता भाग, आरण्यक और ब्राहमण ग्रन्थों में इतस्तत: बिखरे हुए थे वे बीज उपनिषद काल में आकर अंकुरित होने लगे । उपनिषदों में भक्ति का पौराणिक स्वरूप यथावत तो नहीं था, किन्तु ज्ञान, श्रद्धा, वंदना और शरणागति आदि जो भी भक्ति के आवश्यक उपादान है, वे उपनिषदों में पर्याप्त रूपेण दृष्टिगोचर होते है ।

१– आर०जी० भण्डारकर – कलेक्टेड वर्क्स (भाग–४) पृष्ठ २–३
२– शिवदत्त ज्ञानी – भारतीय संस्कृति (पृष्ठ २४७)

– भक्ति के विकास में रामायण का स्थान –

प्राचीन भारतीय साहित्य अर्द्धदैवीय शासकों और नायकों की पौराणिक कथाओं को समेटे हुए है, जिनमें राम की कथा भी है जो सूर्यवंशी राजकुल के एक प्रसिद्ध इक्ष्वाकु नायक के नाम से जाने जाते हैं ।[1] ककरावर्तियों के ऊपर स्तूपों का निर्माण बहुत साधारण बात थी ।[2] जिससे हमें व्यूह सिद्धांतों के विषय में जानकारी मिलती है और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इक्ष्वाकुवंशी नायकों की भी पूजा की जाती रही हो ।

यद्यपि वाल्मीकि गीता में कृष्ण की तरह राम का वर्णन एक अवतार के रूप में नहीं करते है, फिर भी हमे रामायण को मनगढ़ंत कहानी के रूप में नहीं समझना चाहिए । वाल्मीकि अपनी इस कहानी को प्राचीन नायकों की कथाओं के कोष से, इक्ष्वाकु घराने के प्रसिद्ध राजकुमार के रूप में लेते हैं । इन पौराणिक कथाओं से अर्द्धदैवीय नायकों की जानकारी मिलती है, जो पवित्र माने जाते हैं । वे केवल साहस और धैर्य से ही नहीं बल्कि बुद्धि से युक्त है । राम की कथा इन उदाहरण युक्त प्रदर्शन तथा गुणों के कारण विलक्षण है । उनकी कर्तव्य के प्रति भक्ति, राजभक्ति, मानसिक दृढ़ता, नीति सम्बन्धी आदर्शवादी पहलू और साहस योग्य प्रसंगों को वाल्मीकि ने अपने इस वीरतापूर्ण नायकीय महाकाव्य में दिया है । फिर भी यह बिल्कुल स्पष्ट है कि रामायण में केवल राम को ही नहीं, बल्कि सीता और हनुमान को भी एक साधारण मानव जाति के रूप में चित्रित नहीं किया गया है, बल्कि उनका मुख्य सम्बन्ध देवताओं से है ।

१– *गीता iV 1-2*

२– *महापरिनिब्बानसुत्त*

'चतुम्महापदे रैनो कक्कावतिसा थुपाम करोत्ति।
एवम चतुम्मदापदे तथागतेश युद्ध कातबो।

रामायण की उत्पत्ति और विकास –

वेबर के अनुसार राम की ये पौराणिक कथाएँ दशरथ जातक में परिरक्षित हैं, फिर भी हम यह जानते हैं कि वाल्मीकि महाकाव्य के कई शताब्दियों बाद, दशरथ जातक में राम की कहानी मौखिक परम्परा के आधार पर लिखी गई । इस प्रकार इस वर्णन में राम की कथा को तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया है ।[1]

जैकोबी के अनुसार रामायण के सार के दो भाग है – पहला भाग पौराणिक कथाओं की घटनाओं से सम्बन्धित मानवीय नायकों के रूप में है और दूसरा भाग रावण की मृत्यु से सम्बन्धित है, यह भाग वैदिक कथाओं के इन्द्र–वर्त संघर्ष से लिया गया है । तैत्तरीय ब्राह्मण में कृष्ण यर्जुवेद के सम्बन्ध का कोई सन्दर्भ नहीं है, जो रामायण की सीता का है । इसी प्रकार ऋग्वेद में खेत जोतते समय देवताओं ने सीता को अर्पण किया ।[2]

जैकोबी के अनुसार राम के चरित्र को इन्द्र के चरित्र से लिया गया है, और सीता को वैदिक कालीन सीता से । सीता के अपहरण के लिए रावण की मृत्यु वृत्तासुर के रूप में की गई हैं ।[3]

डा० डी०सी० सेन का मत [4] है कि वाल्मीकि ने अपनी कहानी का निर्माण तीन स्वतन्त्र

१– *बेवर 'आन दि रामायन' १८७२ पृष्ठ १२०–२४, १७२–८२, २३९–५३*
सी०एफ०एन०बी० उत्जीकर – "द स्टोरी ऑफ द दशरथ जातक एण्ड आफ द रामायण
बेवर – "हिस्ट्री ऑफ इण्डिया लिटरेचर" – १११–१२
विन्टरनिट्ज – "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर"
संस्करण – । पेज ५०८

२– *ऋग्वेद iv 57.6*

३– *विन्टरनिट्ज – "हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर"*
पृष्ठ ५१५–१६
बुल्के – रामकथा पृश्ठ १०७

४– *डी०डी० सेन – "बंगाली रामायण" पृष्ठ २.३*

कथा के रूप में किया है– वे हैं दशरथ, रावण और हनुमान ।[1]

फादर कामेल बुल्के का मानना[2] है कि रामायण की कहानी की सम्भावना पौराणिक आधार पर ऐतिहासिक विन्दुओं का स्पर्श करती है और यह कल्पना कि रामायण एक स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी गई है, दोषयुक्त है । किन्तु यदि हम तार्किक रूप से विचार करते है, तो यह देखते हैं कि दोनों विचार विरोधी नहीं है । ऐसा लगता है कि वाल्मीकि प्राचीन पौराणिक कथाओं के नायकीय कहानियों से प्रेरणा लेते हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि स्वतंत्र उत्पत्ति का यह सिलसिला भिन्न–भिन्न रहा हो ।[3]

वाल्मीकि के मौलिक रामायण में धीरे–धीरे बाद में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड को अर्न्तवेशित कर दिया गया ।[4] क्योंकि बालकाण्ड की शैली उत्तरकाण्ड की शैली से मिलती–जुलती है । बहुत सी कहानियाँ जो पुराणों में भी देखने को मिलती हैं– जैसे सागर कथा, समुद्र मंथन, विश्वामित्र कथा इत्यादि । ये सभी पौराणिक शैली में लिखी गई हैं । अयोध्या काण्ड की कथा पुराणों में नहीं पाई जाती । दूसरी तरफ उत्तरकाण्ड में कुछ ऐसे तत्वों का उल्लेख किया गया है, जिसका उल्लेख बालकाण्ड में देखने को नहीं मिलता है । बालकाण्ड में उर्मिला का उल्लेख लक्ष्मण की पत्नी के रूप में किया गया है जबकि अयोध्याकाण्ड में लक्ष्मण को अविवाहित कहा गया है । फिर भी फलश्रति के पहले सर्ग में अध्यायों की सूची मिलती है, जो कि अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक के ही अध्यायों की सूचियों का ही उल्लेख करती है, बाद में इसकी

१– वी०एस० सुधाकर – "द राम एपीसोड एण्ड द रामायण"
२– बुल्के – 'रामकथा' पृष्ठ ११५
३– संकालिया ने हाल ही रामायण के पौराणिक चरित्र के विषय में वर्णन किया है "रामायण एक पौराणिक कथा या सत्यता"
४– विन्टरनिट्ज – "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर" पृष्ठ ४९५–९६

अपर्याप्तता महसूस की गई और बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक की दूसरी सूची का उल्लेख किया गया । यद्यपि उत्तरकाण्ड की शैली अन्य काण्डों की शैली से पूर्णत: भिन्न है । उसमें रावण और हनुमान की कहानी के बाद केवल राम की उन्नति का उल्लेख है । यद्यपि कहानी में प्रवाह का अभाव है, क्योंकि अधीन या सहायक कहानियों का सीधा सम्बन्ध मुख्य सारांश से नहीं है । सीता–त्याग, शत्रुघ्न चरित, सम्बूक वध, राम का अश्वमेध यज्ञ तथा सीता हरण का सम्बन्ध एक दूसरे से नहीं है। इसके अतिरिक्त अवतार का उदय (विचार) उत्तरकाण्ड में देखने को मिलता है, जो कि बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है, इसी प्रकार पहला काण्ड भी राम को दैवीय बताता है। कभी–कभी परस्पर विरोधी घटनाएँ भी देखने को मिलती है । जैसे युद्धकाण्ड के अन्त में सुग्रीव और अन्य लोगों को जाते हुए दिखाया गया है, किन्तु पुन: इनका उल्लेख उत्तरकाण्ड में आया है । यद्यपि यह कहा गया है कि अद्भुत घटनाएँ जो बहुत थोड़ी है को कृत्रिम ढंग से संतुलन बनाने के लिए किया गया है और यही वाल्मीकीय रामायण की मुख्य विशेषता है ।[1]

यदि हम इन उद्देश्यों और तर्कों पर सावधानी पूर्वक विचार करें तो हम यह देखेंगे कि बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड निश्चित रूप से बाद के हैं और ये मौलिक रामायण के भाग नहीं है, और ये यह सिद्ध नहीं करते कि वे प्राचीन कहानियों के कोष की उत्पत्ति हैं । रावण की कहानी इसी प्रकार हनुमान की कहानी उत्तरकाण्ड की प्रतीत होती है । उत्तरकाण्ड में हनुमान की कहानी का उल्लेख बड़े विस्तार से मिलता है । वाल्मीकि रामायण में हनुमान किष्किन्धाकाण्ड में मिलते हैं, इस प्रकार ये विलक्षण तत्व और देवत्व जिनमें हनुमान का उल्लेख आता है, को किष्ठिकन्धाकाण्ड के अन्तिम अध्याय में देखा जा सकता है और डा० डी०सी० सेन के विचार से यह बात सम्भावना शून्य नहीं है कि पूरे सुन्दरकाण्ड तथा युद्धकाण्ड में भी हनुमान कथा की

१– *बुल्के – 'रामकथा' पृष्ठ ७३१–३२*

जड़ फैली हुई है ।

इस प्रकार एक महाकाव्य का उन्नत और उदाचरित सारांश, मानव को और जो मानव जाति से परे हैं, दोनों को जोड़ता है ।

<u>मौलिक रामायण में अवतार की संकल्पना के बीज</u> –

अध्योध्या काण्ड के प्रथम सर्ग में राम एक अवतार के रूप में माने गए हैं ।[१]

स हि दैवैरूदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभि : ।

अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णु सनातन : ।।

अरण्यकाण्ड में राम की वीरता का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि भगवान राम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नष्ट करके पुन: उसे बनाने में समर्थ है ।[२]

संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायश : ।

शक्त: स पुरूषव्याघ्र: स्रष्टुं पुनरपि प्रजा : ।

लक्ष्मण राम के दैवीय और मानवीय साहस के विषय में बात करते हैं –[३]

दिव्यं च मानुषं च त्वमात्मनश्च पराक्रमम् ।

इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ।।

शबरी की घटना भी जो साधारण घटना से परे है । शबरी जो एक महान तपस्विनी है, राम से आज्ञा लेने के पश्चात् पवित्र अग्नि में प्रवेश करती है, उसका शरीर ज्योतिर्मय और दैवीय हो जाता है, और वह स्वर्ग चली जाती है ।[४] वह भी राम को देववर पुकारती है – [५]

१– रामायण अयोध्याकाण्ड प्रथम अध्याय श्लोक–७

२– रामायण अरण्यकाण्ड अध्याय XXXI श्लोक २६

३– रामायण अरण्यकाण्ड– ६६ – ११

बंगाली रीडिंग III 71-76

४– रामायण III 74

५– रामायण III 74.12

अद्य में सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति ।

त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ।।

इस अध्याय में राम को एक साधारण मानव जाति से परे दिखाया गया है । वह एक आध्यात्मिक निर्देशक की भाँति काम करते हैं । वह शबरी की आध्यात्मिक उन्नति के विषय में पूँछते हैं कि उसने आध्यात्मिक उन्नति में आने वाली बाधाओं पर नियन्त्रण कैसे प्राप्त किया, और यदि उसे यह जानकारी थी कि तपस्या से उन्नति होती है —[१]

कच्चित्, निर्जिता विघ्नाः कच्चिन्ते वर्धते तप : ।

कच्चित्ते गुरूशुश्रूषा सफला चारूभाषिणी ।।

शबरी राम से कहती है कि मैं आपके क्षणिक मंगल जनक दृष्टि द्वारा पवित्र हो गई हूँ, और आपके प्रसाद से (आशीर्वाद से) अक्षय लोक को जा रही हूँ —[२]

चक्षुषा तव सौम्येन पूतास्मि रघुनन्दन ।

गमिष्याम्यक्ष्याँल्लोकांस्त्वत्प्रसाददरिंदम् ।।

हम जानते हैं कि अवतार का एक महत्वपूर्ण कार्य आध्यात्मिक निर्देशक की भाँति कार्य करना भी है और इसकी झलक देखने को मिलती है । यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जाता है कि इस अर्द्धदैवीय नायक राम एक आध्यात्मिक निर्देशक की भाँति काम कर रहे हैं । यह बात पूर्ण अवतार वाद में राम की संकल्पना के विकास को दिखाती है ।

शबरी की भक्ति से यह जानकारी मिलती है कि इस समय अपिरिचित और बहिष्कृत (परित्यंक्त) लोगों के द्वारा भी भक्ति और तप का अभ्यास किया जाताा रहा है ।[३]

१— रामायण III 74.8

२— रामायण III 74.13

३— रामायण III 74.18

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ।

राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम् ।।

अरण्यकाण्ड के ६४वें सर्ग में राम कहते हैं कि वे सीता को वापस लाएगें, यद्यपि उन्हें यक्षों, राक्षसों और किन्नरों से युद्ध करना होगा । वे कहते हैं कि हम अपने वाणों से आकाश को भर देंगे, वे देवताओं का सामना करके उन्हें हरा देंगे, निश्चित रूप से वे तीनों लोकों को नष्ट कर देंगे । यद्यपि इसे काव्यात्मक अतिशयोक्ति ही कहा जाता है । इन उदाहरणों के द्वारा वाल्मीकि यह बताना चाहते हैं कि राम की वीरता श्रेष्ठ है, जो कि साधारण मानव की वीरता से परे है ।

किष्किन्धाकाण्ड में हनुमान को अपना रूप को बदलते हुए दिखाया गया है । जब वह पहली बार राम से मिलते हैं, तो राम को आश्चर्य होता है कि जिनका वेदों में कोई उल्लेख नहीं है, वे इतनी अच्छी तरह से बात कर रहे हैं, और व्याकरण के इतने विद्वान हैं । बाद में इस रहस्य को बताया गया है ।[८२] जब जामवन्त हनुमान से अपने जन्म के रहस्य को बताते हैं । चूँकि हनुमान को पौराणिक कथाओं में असाधारण तत्व के रूप में बिना किसी शंका के दिखाया गया है ।

सुन्दरकाण्ड तो हनुमान की वीरता और साहस से भरा हुआ है, जो मानवीय क्षमताओं से परे है । वे समुद्र से ऊपर उड़ते हैं और वेष तथा रूप बदलकर सूरसा का सामना करते हैं । इसी प्रकार का चरित्र युद्धकाण्ड में भी देखने को मिलता है, जब वे बहुत ही कम समय में आरोग्यकारी सैकड़ों औषधियों को लाकर राम और लक्ष्मण के जीवन को बचाते हैं ।

सुन्दरकाण्ड में हनुमान राम को अर्द्धदैवीय गुणों से युक्त मानते हैं । वे रावण से कहते है कि राम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नष्ट करके पुनः उसका निर्माण करने में समर्थ हैं । उनकी वीरता विष्णु से साम्य रखती है, और वे देवताओं, असुरों, मानव जातियों, यक्षों, साँपों, विद्याधरों, नागों,

गन्धर्बो, मृगों, सिंहों, किन्नरों, चिड़ियों और अन्य जातियों से सामना करने में समर्थ हैं, यहाँ तक कि चार मुख वाले ब्रह्मा, रूद्र और इन्द्र भी राम को नहीं हरा सकते है ।[1]

युद्धकाण्ड में राम के देवत्व के विषय में बहुत से सन्दर्भ देखने को मिलते हैं। रावण का एक मन्त्री उसे सलाह देता है कि वे राम से युद्ध न करें । यह कहते हुए[2]–

लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनमत : ।

वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो भुवि ।।

सुग्रीव विभीषण से कहते हैं कि राम और लक्ष्मण गरूड़ में बैठे हुए हैं –[3]

न रूजा पीड़ितावेतावुभौ राघवलक्ष्मणौ ।

अग्नि परीक्षा के समय देवता विष्णु के रूप में राम से प्रार्थना करते हैं, सीता और लक्ष्मी की भी प्रार्थना की गई है ।[4]

वह कद्र नारायण और परब्रह्म भी माने गए हैं, बाद में संस्करणों में राम को पूर्ण अवतार माना गया है । राम के प्रति अपार भक्ति से ओत–प्रोत शबरी राम के द्वारा ग्रहीत लवन के छूटे डाँठ बटोरती है ।

<u>भक्ति शब्द की संकल्पना</u> –

भक्ति शब्द के प्रसंग में इसका तात्पर्य एक दृढ़ भक्ति से है, जो छोटों का बड़ों के प्रति जो इसके योग्य है, एक पत्नी का पति के प्रति भक्ति इत्यादि । वास्तव में यहाँ पर भक्त का

१– *रामायण V 51, 34-44*
२– *रामायण VI 34-22*
३– *रामायण VI 50-22*
4- *रामायण VI 117-6 'बरौड़ा एडीसन'*

सम्बन्ध प्रेम की विभिन्न अभिव्यक्तियों से है । वनगमन के समय राम लक्ष्मण से कहते हैं, वे अयोध्या में रूकें और बड़ों की देखभाल करें, किन्तु लक्ष्मण ऐसा न करके राम के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हैं —[१]

एक पति के प्रति [२]

एवं मया महाभागा दृष्टाजन्कनन्दिनी ।

उग्रेणा तपसा युक्ता त्वद्म्क्त्या पुरर्षषभ ।

सुन्दरकाण्ड में हनुमान सीता से बात करते हैं कि राम अपने महान गुणों के कारण लोगों में पूजे जाते हैं और उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं —[३]

सुन्दरकाण्ड में राम के प्रति हनुमान की भक्ति बहुत ही स्पष्ट है, वे राम को अपना गुरू मानते हैं, और उनके प्रति अपने प्रेम की घोषणा करते हैं —[४]

इच्छामि त्वां समानंतुमघैव रघुबन्धुना ।

गुरूस्नेहेन भक्त्या च नान्यथैतदुदाहृतम् ।

रावण की मृत्यु के पश्चात् हनुमान इस समाचार को सीता को सुनाते हैं, और वे हनुमान से वरदान माँगने को कहती हैं तो वे कहते हैं कि आपके मुख से ऐसे प्रेम पूर्वक शब्द सुनकर मुझे कुछ भी माँगने की इच्छा नहीं रह गई है । राम की विजय से ऐसा महसूस हो रहा है कि

१— *रामायण II 13, 16*
२— *रामायण V 65, 19*
३— *रामायण V 15, 12*
४— *रामायण V 38, 9*

हमने सब कुछ पा लिया है ।[1]

दैवं चेष्टयते सर्वहतं दैवेन हन्यते ।

वानराणां विनाशोडयं रक्षसां च महाहवे ।

यद्यपि हम देखते है कि भक्ति का आधारभूत तत्व और अवतारवाद एक अपरिपक्व रूप में राम के अर्द्धदैवीय चारित्र को सक्रिय रूप से वाल्मीकि के मौलिक रामायण में दिखाया गया है । बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड इन गुणनखण्ड के विकास को दिखाते हैं, और उत्तरकाण्ड तो इसे व्यक्त करने का एक अच्छा मार्ग है ।

बालकाण्ड में अवतारवाद का उल्लेख दो बार किया गया है । सबसे पहले पुत्रेष्टि यज्ञ के[2] अध्याय में जब सभी देवता ऋष्यश्रृंग के पास बलिदान के लिए, और ब्रह्मा से रावण को मारने की प्रार्थना करते हैं । तब ब्रह्मा विष्णु को मर्त्य व्यक्ति के रूप में जन्म लेकर इस कार्य को पूरा करने को कहते हैं । क्योंकि कोई साधारण मानव इसे नहीं कर सकता है । यहाँ अवतार के प्रत्यक्ष उद्देश्य को स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है । दूसरे स्थान पर परशुराम राम को विष्णु मानते हैं और कहते हैं कि उनसे हारने पर हमें किसी प्रकार की लज्जा महसूस नहीं होगी ।[3]

यद्यपि बालकाण्ड को बाद में अर्न्तवेशित किया गया है, फिर भी ये उदाहरण बाद के है बालकाण्ड के अन्त में अवतारवाद का वर्णन बहुत स्पष्ट रूप से नहीं है । दूसरी तरफ बालकाण्ड में प्रसंग है कि मुख्य बालकाण्ड लिखे जाने के समय राम पूर्ण अवतार नहीं थे । पहले अध्याय में राम की तुलना विष्णु से की गई है । "विष्णुना सदृशौ विनाये" ।[4] और अंत में यह कहा गया है कि अपनी लीला के बाद रामब्रह्मलोक चले जाएगें।[5] उत्तरकाण्ड के कई अध्यायों में राम को

१– *रामायण VI 113-24*

२– *रामायण I 15*

३– *रामायण I 73-17-19*

4– *रामायण I 1-18*

५– *सी०एफ० बुल्के – 'रामकथा' पृष्ठ १२९*

अवतार माना गया है जैसे १७,२७, ३०, ५१, ७६, ९८, १०४, १०६, ११०, १११, १३७ इत्यादि में । जब सीता पृथ्वी में प्रवेश करती हैं तो राम कहते हैं कि वे उन्हें वापस ले आयेंगे । ब्रह्मा कहते हैं कि तुम्हे यह नहीं भूलना चाहिए कि तुम विष्णु हो, और सीता सदैव तुम्हारी है, और वे परमधाम चली गई है, जहाँ वे पुन: मिलेगीं ।

कुछ विद्वान सीता की उत्पत्ति का उल्लेख करते हैं । ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि रामायण की सीता का सम्बन्ध कृष्ण यर्जुवेद के तैत्तरीय ब्राह्मण की सीता से है, और यह संदेहपूर्ण है कि ऋग्वेद की सीता का सम्बन्ध महाकाव्यों की सीता से है, फिर भी सीता का सम्बन्ध रहस्मयी प्रतीत होता है । अयोध्या काण्ड में बड़े ही स्पष्ट ढंग से कहा गया है कि वह पृथ्वी से पैदा हुई है ।[१] उनके जन्म का उल्लेख सम्पूर्ण महाकाव्य में देखने को नहीं मिलता है। उन्हें कई बार 'अयोनिजा' कहा गया है । युद्धकाण्ड के अन्त में वे अग्नि में प्रवेश करती हैं और बाहर निकल आती हैं और भगवान उनके पवित्रता की घोषणा करते हैं । उत्तरकाण्ड में जब राम सीता से दूसरी अग्नि परीक्षा देने को कहते हैं, तो उनकी पवित्रता को सिद्ध करने के लिए पृथ्वी फट जाती है, और वे उसमें समा जाती हैं, यद्यपि ये प्रसंग बहुत बाद के हैं, फिर भी ये सीता को अर्द्धदैवीय बताते हैं, या फिर साधारण मर्त्य स्त्री । हनुमान जिनकी भक्ति को आदर्श भक्ति कहा गया है, भी उन्हें पवित्र मानते हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है [२] कि वे अपने गुरू राम तथा सीता के प्रति प्रेम और भक्ति प्रदर्शित करते हैं ।

अत: हम वाल्मीकि के मौलिक रामायण में भक्ति के वृद्धि का विकास देखते हैं जो कि अवतारवाद का एक अपरिपक्व रूप है। राम, सीता और हनुमान का अर्द्धदैवीय चरित्र एक संकेत

१— *रामायण II 118, 28*

२— *रामायण II 81*

के रूप में देखने को मिलता है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड इस गुणनखण्ड की वृद्धि को दिखाते हैं और इसे अच्छी प्रकार से व्यक्त करते हैं।

जिस समय बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड लिखे गए, उस समय वैष्णव धर्म की प्रधानता थी, उत्तरकाण्ड में ऐसे सैकड़ों उदाहरण है, जहाँ राम को विष्णु कहा गया है । महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में विष्णु के छह अवतारों का उल्लेख मिलता है– वाराह, नरसिंह, वामन, भार्गव, राम, दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण आदि । इसी उपाख्यान में दूसरे स्थान पर चार प्रकार के अवतारों का उल्लेख है – वाराह, नरसिंह, वामन और मनुष्यावतार इसके अतिरिक्त वैष्णव साहित्य और उपनिषद राम की पूजा और भक्ति के भावनापूर्ण चित्रण को सैद्धान्तिक और व्यवस्थित ढंग से व्यक्त करते हैं ।

यद्यपि कृष्ण के लिए अलग से किसी मन्दिर का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु गुप्तों के समय में मन्दिरों, द्वारफलकों पर विष्णु, कृष्ण आदि को चित्रित किया गया है, किन्तु हम इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि उस समय कृष्ण भक्ति बहुत ज्यादा प्रचलित नहीं थी । सिर्फ यह सम्भव हो सकता है कि उस समय राम एक अवतार के रूप में कृष्ण की भाँति प्रसिद्ध नहीं थे । निष्कर्ष रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि इसके बहुत दिनों बाद रामभक्ति का विकास हुआ और उनके अवतार को तार्किक नहीं माना गया ।

यद्यपि रामानुज ने राम की भक्ति का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके 'श्रीभाष्यं' में राम और कृष्ण के अवतारों का उल्लेख है तथा धार्मिक सम्प्रदाय में दास्य भक्ति का वर्णन है ।

बाद के उपनिषदों में (जो राम से सम्बन्धित है) कृष्ण की पूजा का प्रभाव देखने को मिलता है । भगवद्गीता रामभक्ति के प्रभाव के लिए महत्वपूर्ण है । अन्य विविध ग्रन्थों जैसे श्रीराम गीता में राम को परब्रह्म बताया गया है । बाद में अध्यात्म रामायण, आनन्दरामायण और अद्भुत रामायण, धर्मशास्त्रों और वेदान्त के विचारों को तात्विक रूप से स्वीकार करते हैं । अध्यात्म

रामायण का उद्देश्य शंकराचार्य के वेदान्त के आधार पर रामभक्ति को व्यवस्थित ढंग से व्यक्त करना है । बाद में रामचरित मानस का इसमें बहुत बड़ा योगदान है ।

इस प्रकार रामायण में आदि से अन्त तक सभी ने यहाँ तक कि रावण ने भी भगवान विष्णु के रूप में श्री राम की भगवत्ता का प्रतिपादन किया है । वाल्मीकि जी यह दिखलाते हैं कि ऋषि शरभङ्ग से लेकर शबरी तक सबके लिए भगवान की कृपा का द्वार खुला है और भगवद्भक्ति सभी को मुक्ति का अधिकारी बना देती है ।

महाभारत में भक्ति

भारतीय वाङ्मय में महाभारत ग्रन्थ का विशेष स्थान है। भक्ति से सराबोर कथा आख्यायिकाओं का विशद भण्डार होने के कारण उसे भारतीय संस्कृति का विश्व कोष कहा जा सकता है। विद्वान लोग महाभारत को पञ्चम वेद कहते हैं। श्रीमद भगवदगीता महाभारत का ही अंश है, जिसमें भक्ति का विशद विवेचन है। महाभारत के युद्ध से पहले श्रीमद भगवदगीता सुनाई गयी थी। कर्तव्य के विषय में अर्जुन को जो मोह उत्पन्न हो गया था, वह गीता के उपदेश से दूर हो गया । गीतोपदेश के कारण ही महाभारत का निर्माण सम्भव हो सका । श्रीमद भगवदगीता महाभारत की प्राण और आत्मा है। इस वाक्य पर विचार करने से महाभारत का महत्व और उसका पञ्चम वेदत्व स्पष्ट हो जाता है और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत का महत्व पञ्चम वेदत्व श्रीमद भगवदगीता के योग से पूर्णता को प्राप्त हुआ है। ऐसी स्थिति में महाभारत को पञ्चमवेद कहना पूर्णतया उचित और तर्कसंगत है।

भागवत की भाँति महाभारत में भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि अखिल लोकपित, देवाधिदेव, भगवान, नारायण ही वासुदेव श्रीकृष्ण के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।[१] आदि पर्व में यह भी उल्लेख मिलता है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रिय सखा तथा पूर्व जन्म में नर और नारायण नाम के ऋषि थे।[२] नर और नारायण के सम्बन्ध में उद्योगपर्व के एक भाग में दिखाया गया है।[३] जब राजा दम्बोद्भव ने बदरी में उनकी कुटिया में नर और नारायण को चुनौती दी नर ने उनके ऊपर एक मुट्ठी भूसा फेंका और यह दम्बोद्भव की आँख और नाक में पड़ गया, तुरन्त दम्बोद्भव नर के पैरों पर गिर बड़े और उनसे शान्ति की याचना की । यहाँ 'नर' जीवन मात्र का प्रतीक है और 'नारायण' साक्षात् परमात्मा हैं।

१— महाभारत, आदि पर्व ६४/५२—५४ तथा ६७/१५१

२— आस्तां प्रियसखायौ तौ नर नारायणावृषी।

आदिपर्व २१७/५

३— महाभारत उद्योगपर्व ९४ द्वितीय वाल्यूम पेज १०१६—१७

'भगवान वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन' । इस वाक्य से यही अर्थ बतलाना अभीष्ठ प्रतीत होता है कि महाभारत में जो पाण्डव आदि का चरित्र है, उससे यह शिक्षा मिलती है कि उन परम पुरुष परमेश्वर भगवान श्री कृष्ण में ही मन लगाओ, संसार की इन सारहीन संदर्भो में न फंसो ।

महाभारत में जो देवता, तीर्थ और तप आदि के अत्यन्त प्रभाव का वर्णन किया गया है, वह इसलिए कि वे भगवान की प्राप्ति के साधन है, तथा अन्यान्य देवता भी भगवान की विभूतियाँ हैं । पाण्डव आदि के चरित्र का तात्पर्य संसार से वैराग्य कराने में है, और वैराग्य परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन के मत में भी महाभारत का तात्पर्य मोक्ष या भगवद् भक्ति में ही है। महाभारत में मुख्य रूप से तीन बातें हैं । भगवान वासुदेव की महिमा, पाण्डवों की सत्यवादिता और कौरवों का दुर्व्यवहार ।[१]

इनमें से वासुदेव की महिमा तो ग्रन्थ का मुख्य विषय है ही, पाण्डवों की सत्यता व भक्ति भगवत्प्राप्ति का साधन है तथा कौरवों का दुर्व्यवहार भगवान से विमुख करके पतन के गर्त में गिराने वाला है। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति की इच्छा वाले मनुष्य को पाण्डवों की भाँति सत्यधर्म को अपनाना चाहिए, कौरवों की भाँति दुराचार को प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

महाभारत में सनातन भगवान वासुदेव की महिमा का वर्णन हुआ है । वे ही सत्य और ऋत् हैं, पावन और पवित्र हैं, उन्हीं को सनातन परब्रह्म कहते हैं, वे नित्य प्रकाश स्वरूप एवं सदा स्थिर रहने वाले हैं, मनीषी विद्वान उन्हीं की दिव्य लीलाओं का वर्णन करते हैं। यह सत् और असत् रूप सम्पूर्ण विश्व उन्हीं से उत्पन्न होता है, ध्यान योग की शक्ति से सम्पन्न जीवमुख्य सन्यासी दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति अपने अन्तःकरण में उन्हीं परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं।[२]

१— महाभारत आदि पर्व १/१००/१०१

२— महाभारत— आदि पर्व —१

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण स्वयं अपनी इच्छा से ब्राह्मणों के चरण धोने का कार्य स्वीकार करते हैं।[१] इस यज्ञ को देखने के लिए अनेक महर्षियों के साथ देवर्षि नारद भी पधारते हैं । भगवान श्रीकृष्ण को सभामण्डप में उपस्थित देखकर उन्हें भगवान नारायण के भूमण्डल पर अवतरित होने का स्मरण हो आता है।[२] इसके पश्चात जब सभा में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपस्थित महानुभावों में से सर्वप्रथम किसकी पूजा की जाए तो भीष्म पितामह अपनी निष्पक्ष सम्मति देते हुए कहते हैं कि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मनुष्यों में और कौन श्रेष्ठ हो सकता है। क्योंकि एक तो इनमें बल की अधिकता है और दूसरे ये वेद—वेदाङ्गों के विद्वान हैं।[३]

श्रीकृष्ण ही इस चराचर जगत के उत्पत्ति एवं प्रलय स्वरूप हैं, और इस चराचर प्राणिजगत का अस्तित्व उन्हीं के लिए है। हरि ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन धर्म और समस्त प्राणियों के जगदीश्वर हैं, अतएव परम पूजनीय हैं। [४]

एक बार शिशुपाल ने श्रीकृष्ण और भीष्मपितामह के प्रति अनेक अपशब्दों का प्रयोग किया, जब अन्य सभासदों के समझाने पर भी वह शान्त न हुआ तो श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसका शीश काट दिया । इस समय सभा में विद्यमान सभी व्यक्तियों ने देखा कि शिशुपाल के शरीर से एक विशाल तेज पुंज जगतवन्ध श्रीकृष्ण को प्रणाम कर उन्हीं के शरीर में विलीन हो गया।[५]

१— *महाभारत—सभापर्व ३४—११*
२— *महाभारत सभापर्व— ३६—१२*
३— *महाभारत सभापर्व ३८/१७—१९*
४— *महाभारत सभापर्व ३८/२३—२४*
५— *महाभारत सभापर्व ४५/२६—२८*

इस अलौकिक घटना से श्रीकृष्ण की भगवत्ता तो प्रमाणित होती ही है, साथ ही जो लोग वहाँ उपस्थित थे, उन्हें इस बात का भी प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया कि चाहे कैसा भी पापी क्यों न हो, भगवान की भक्ति करने पर उसकी सायुज्य मुक्ति हो जाती हे, वह भगवान के स्वरूप में लीन हो जाता है, यही उनकी अनुपम भक्ति का प्रसाद है। वे मारकर भी जीव का उद्धार ही करते हैं ।[१] शिशुपाल के हस्तक्षेप करने पर भीष्म जी खीझ कर बोले—जो विश्ववन्द्य श्रीकृष्ण की पूजा का अभिनन्दन नहीं करता, वह क्षमा के योग्य नहीं है, फिर उन्होने भगवान की विस्तृत महिमा बतायी, ये अविनाशी परमेश्वर हैं, इन्हीं से सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति हुई है, ये ही अव्यक्त प्रकृति है, और ये ही सनातनकर्ता हैं साथ ही ये ही सम्पूर्ण भूतों से परे हैं इन्हीं सब कारणों से इनकी पूजा की जाती है।[२] दु:शासन द्रौपदी का वस्त्र खींचना चाहता है, कोई लाज बचाने वाला नहीं है, उसने दीनबन्धु भगवान को पुकारा, भगवान की दया और भक्ति से द्रौपदी के धर्म ने ही वस्त्र बनकर उसके शरीर को ढँक लिया, अथवा धर्ममय दुकूल बनाकर स्वयं भगवान ने उसकी लाज बचायी ।[३] इस प्रसंग से भी भगवान की भक्ति और धर्म की महत्ता सिद्ध होती है।

इसी प्रकार वनपर्व में भी भक्ति के अनुपम उदाहरण देखने को मिलते हैं । एक बार दुर्वाशा ऋषि पाण्डवों की कुटिया में आते हैं किन्तु खाना (भोजन) खत्म हो जाने के कारण उन्हें देने के लिए द्रौपदी के पास कुछ भी नहीं है। वह कृष्ण का स्मरण करती है, और भगवान उसकी सहायता करते हैं।[४]

१— "महाभारत के कुछ आदर्श पात्र" — श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ ८
२— महाभारत —सभापर्व
३— महाभारत — सभापर्व ६१/४१—४२
महाभारत के संस्करण प्रथम् पृष्ठ ३६९ में भी इस कथा का वर्णन (महाभारत चित्रशाला प्रेस पूना संस्करण सभापर्व ६३—४३) देखने को मिलता है।
४— महाभारत—वनपर्व २६३, ७—१६, पृष्ठ ४१७
संस्करण चित्रशाला प्रेस

एक समय जब पाण्डव काम्यक वन में रहते थे, भगवान श्रीकृष्ण, सत्यभामा को साथ लेकर उनसे मिलने गए, वहाँ मार्कण्डेय जी ने पाण्डवों से अपना प्रलय काल का अनुभव सुनाते हुए भगवान बालमुकुन्द की बड़ी महिमा गायी, और कहा ये श्रीकृष्ण ही पुराण पुरुष परमात्मा हैं। ये ही जगत की सृष्टि पालन और संहार करने वाले हें । ये ही माधव सम्पूर्ण प्राणियों के माता–पिता हैं। पाण्डव तुम सब लोग इन्हीं की शरण में जाओ ।[1]

इस प्रकार वनपर्व में भी स्थान–स्थान पर भगवान की भक्तवत्सलता का परिचय मिलता है ।

उद्योग पर्व में कथा आती है कि भगवान श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का साथ दिया इससे स्पष्ट होता है कि भगवान संकट के समय अपने भक्तों को कभी नहीं छोड़ते है, इस प्रकार उद्योग पर्व में भी श्रीकृष्ण की महिमा और भक्ति का ही विशेष वर्णन है । इसी पर्व में नर और नारायण के सम्बन्ध में प्रदर्शित किया गया है ।[2]

इसके पश्चात् भगवद्‌गीता प्रारम्भ होती है । अर्जुन को मोह हुआ और वे भगवान की शरण में गए । भगवान ने शरणागत पर दया की, और थोड़े समय में ही भक्त को कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का रहस्य बताकर उसे शरण में ले कृतार्थ कर दिया । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान की शरण में गए बिना जीव को शोक–मोह के बन्धन से छुटकारा नहीं मिलता है ।

भीष्म पर्व में भी श्रीकृष्ण को भक्ति और महत्व का दर्शन होता है । द्रोणपर्व में भी यही बात देखने को मिलती है, इस पर्व में जयद्रथ और द्रोणाचार्य का वध श्रीकृष्ण के नीति कौशल द्वारा हुआ है । स्वंय धृतराष्ट्र ने संजय से भगवान श्रीकृष्ण के प्रभाव का वर्णन किया है।[3]

१— महाभारत—वनपर्व

२— महाभारत उद्योगपर्व १४ वाल्यूम द्वितीय,

पृष्ठ १०१६—१७

३— महाभारत — द्रोणपर्व ११वां अध्याय

जयद्रथ वध के प्रसंग से यह शिक्षा मिलती है कि भगवान सहायक हो तो मनुष्य कठिन से कठिन प्रतिज्ञा पूरी कर सकता है । युधिष्ठिर ने तो भगवान से स्पष्ट कह दिया कि "गोविन्द! आपकी कृपा होने पर ही अर्जुन ने यह अद्भुत पराक्रम किया है।[१] इस प्रकार कर्ण तथा शल्य पर्व में भगवान के ही प्रभाव का वर्णन है ।

शान्ति पर्व में उल्लेख है कि जब भगवान श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म जी के पास आते हैं । भीष्म हर्षातिरेक से गद्गद होकर उनकी स्तुति करने लगते हैं । "सम्पूर्ण लोकों की उत्पत्ति और संहार करने वाले भगवान श्रीकृष्ण तुम्हें नमस्कार है । योगीश्वर तुम्ही सबको शरण देने वाले हो, तुम्हे बारम्बार प्रणाम है । हे कमललोचन ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, तुम्हारी शरण में पड़ा हूँ और इच्छानुसार उत्तम गति प्राप्त करना चाहता हूँ। देवेश्वर जिससे मेरा कल्याण हो, उसी गति को मुझे पहुँचाओं ।[२]

भगवान ने कहा, राजन् । तुम्हारी पराभक्ति है, इसीलिए मैंने तुम्हें इस दिव्यरूप का दर्शन कराया है ।[३]

-भीष्म पर्व के अन्तर्गत अध्याय २५ से ४२ तक श्रीमद्भगवद्गीता है । "भक्ति की शिक्षा सबसे पहले भगवद्गीता में मिलती है । शाण्डिल्य और नारद के भक्तिसूत्र बाद के हैं ।[४] अपनी दिव्य शक्तियों का ज्ञान कराने के लिए श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराया, और अर्जुन से बोले – हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन मिलना बहुत कठिन है । देवता भी इस रूप को सदैव देखने की इच्छा किया करते है, जैसा तूने मुझे देखा है, वैसा मुझे वेदों से, तप से, दान से अथवा यज्ञ से भी कोई

१— महाभारत—द्रोणपर्व
२— महाभारत – शान्तिपर्व
३— महाभारत – शान्तिपर्व
४— दर्शनशास्त्र का इतिहास – डा० देवराज

देख नहीं सकता । हे अर्जुन केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मेरा ज्ञान होना, मुझे देखना और मुझमें प्रवेश करना सम्भव है ।[१] गीता में ज्ञान को अपेक्षा भक्ति को ही महत्व दिया गया है ।[२] भीष्म पर्व में भगवान ने कहा है, ''जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का महेश्वर जानता है, वही मनुष्यों में ज्ञानी है, और वह सब पापों से मुक्त हो जाता है ।[३]

इस प्रकार पूर्वोक्त रूप से सम्पूर्ण महाभारत की पर्यालोचना करने से अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत भक्ति के एक अगाध महासागर के समान है । यदि महाभारत को हम सम्पूर्ण वेद, उपनिषद, दर्शन पुराण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र आदि का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रंथ कहे तो यह अत्युक्ति नहीं है ।

अत: यह स्पष्ट है कि गीता और भागवत की भाँति महाभारत में भी सिद्धांत रूप से श्रीकृष्ण की भक्ति का स्वरूप विद्यमान है ।[४]

महाभारत में रामायण की अपेक्षा भक्ति का अधिक व्यापक और व्यवस्थित रूप मिलता है । जनता जर्नादन के कल्याण के लिए भक्ति मार्ग का प्रचार और प्रसार करने की जो तीव्र भावना महाभारत और उसके पश्चात् के भक्ति प्रधान ग्रन्थों में दिखाई देती है, वह उसके पूर्व नहीं थी । इसीलिए कुछ विद्वान भक्ति का वास्तविक विकास महाभारत काल से मानते हैं ।[५]

१— गीता — ११.५४
२— गीता रहस्य — लोकमान्य तिलक नवम् संस्करण १९५० ई० पृष्ठ ८४७
३— महाभारत—भीष्मपर्व
४— 'सूर और उनका साहित्य' — डॉ० हरवंश लाल शर्मा — पृष्ठ १९९
५— 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ७४ और आचार्य नंद दुलारे बाजपेई सूरदास पृष्ठ ११

– श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति –

गीता महाभारत का ही अंग है, तथा भारतीय चिंतन का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट करने वाला एक महान प्रस्थान ग्रंथ है, इसमें भक्ति तत्व का विशद विवेचन है यही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें सांसारिक विषयों का वर्णन नहीं है । इसके सम्बन्ध में वेदव्यास जी ने कहा है कि स्वंय श्री पद्मनाभ विष्णु भगवान के मुख से निकली हुई इस गीता को भली–भाँति पढ़कर हृदय में धारण करना कर्तव्य है, अर्थात् इसे धारण कर लेने के उपरान्त अन्य शास्त्रों की आवश्यकता नहीं रह जाती ।[१]

श्रीमद्भागवद्गीता समस्त शास्त्रों का ही विशेषकर उपनिषदों का सार है । गीता भक्ति से ओत–प्रोत है। पहले ६ अध्यायों में कर्मयोग, अन्त के ६ अध्यायों में ज्ञानयोग और बीच के ६ अध्यायों में भक्तियोग की प्रधानता है, किन्तु सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक तो भक्ति ही भक्ति भरी है । चौथे अध्याय में भगवान ने अपनी भक्ति की महिमा में यहाँ तक कह दिया है कि जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ ।[२]

भगवान कहते हैं ''मेरा पारायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है ।[३] इस प्रकार भगवान ने अपनी शरणागति रूप भक्ति का माहात्म्य बतलाकर अर्जुन को सब प्रकार से अपनी शरण ग्रहण करने का आदेश दिया है । ''सब कर्मो को मन से मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धि रूप योग का अवलम्बन करके मेरे पारायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्त को लगाए रह । इस प्रकार मुझमें चित्त लगाए रहकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों को अनायास ही पार कर जायेगा।" [४]

१– *गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहे ः ।*
या स्वंय पद्मनाभस्य मुखपद्मनाद् विनिस्सृता।
(४३/१) गीता (स्वंय वेदव्यास जी ने महाभारत के भीष्मपर्व में कहा है)

२– *गीता – ४–११ का पूर्वार्ध*

३– *गीता – १८–५६*

४– *गीता– १८/५७–५८ का पूर्वार्ध*

यहाँ भगवान ने अपने सगुण साकार स्वरूप की भक्ति के लक्षणों का वर्णन करके अर्जुन को अपने शरण में आने की आज्ञा देकर उसका महत्व बतलाया है । जो पुरूष नित्य निरन्तर परम दिव्य पुरूष परमात्मा का चिन्तन करता रहता है, वह भगवान की भक्ति के प्रभाव से अन्तकाल में भगवान का स्मरण करता हुआ उस परम दिव्य पुरूष परमात्मा को पा लेना है, तथा जो इन्द्रियों और मन को सब ओर से रोककर श्रद्धा भक्ति पूर्वक परमात्मा के नाम का उच्चारण और उनके स्वरूप का ध्यान करता हुआ शरीर छोड़कर चला जाता है, वह निश्चय ही परम गति को प्राप्त हो जाता है ।[1]

अतएव ज्ञान–योग, ध्यान–योग, अष्टांग योग, कर्मयोग जितने भी भगवत्प्राप्ति के साधन है, उन सब से भगवद्‌भक्ति सर्वोत्तम है । भगवान ने छठे अध्याय के सैंतालीसवें श्लोक में बताया है । "सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से निरन्तर मुझको भजता हे । वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।"[2] इसी प्रकार अर्जुन के कहने पर बारहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में भी भगवान ने अपने भक्तों को सबसे उत्तम बतलाकर भक्ति का महत्व प्रदर्शित किया है । मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यान में लगे हुए जो भक्त जन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ सगुण रूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मुझको योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य है ।[3]

इस प्रकार ''भक्ति सभी साधनों की अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है । इतना ही नहीं भक्ति से शीघ्र ही सारे पापों का नाश होकर भगवान के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, और मनुष्य इस दुस्वर संसार समुद्र से तरकर भगवान का दर्शन पा लेता है एवं भगवान को तत्व से जानकर

१— गीता — ८—८—१३
२— भगवद्‌गीता — ६/४७
३— भगवद्‌गीता — १२/२

उनमें प्रवेश भी कर सकता है ।"[1] भगवान ने कहा है, हे परन्तप अर्जुन ! "अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार रूप वाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए तत्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात एकीभाव से प्राप्त होने के लिए मैं शक्य हूँ।" [2]

यों तो ज्ञान योग के द्वारा भी पापों का नाश होकर परमात्मा का ज्ञान और परमशान्ति की प्राप्ति हो सकती है । किन्तु उसमें सगुण साकार भगवान का साक्षात दर्शन नहीं होता । अनन्य भक्ति से परमात्मा का ज्ञान और परमात्मा की प्राप्ति यानी परमात्मा में एकीभाव से प्रवेश होने के अतिरिक्त उनका साक्षात् दर्शन भी सम्भव है । इसलिए भगवान की अनन्य भक्ति का मार्ग सर्वोत्तम है ।

गीता भक्ति का सर्वप्रथम शास्त्रीय ग्रंथ है, जिसमें भक्ति के स्वरूप और उसकी प्रक्रियाओं का विवेचन है । गीता आत्म–समर्पण और अनन्य शरणागति के भाव से ओत–प्रोत है, जो भक्ति की सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम प्रक्रिया है । [3]

गीता के नवें अध्याय में कहा गया है कि भक्ति का मार्ग राजमार्ग है । इस मार्ग पर श्रद्धा न रखने वाले भगवान को नहीं पाते और वे मृत्युयुक्त इस संसार के मार्ग में लौट आते हैं । गीता में मनुष्य मात्र के अधिकार की बात कही गयी है । अन्य अनेक ग्रंथों में स्त्री–शूद्रादि को उनके पठन–पाठन का अधिकारी नहीं माना गया है कि "मेरे में पारायण (भक्ति युक्त) होने वाले शूद्र, वैश्य, स्त्री और पाप योनि वाले मनुष्य भी परमगति को प्राप्त होते हैं और अपने–अपने स्वाभाविक कर्मो से पूजा करके परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं ।" [4]

१– कल्याण – १९७४ वाल्यूम ४८ (श्रद्धेय श्री जयदयाल जी गोयन्दका)
२– भगवद्गीता – ११/५४
३– महाकवि सूरदास पृष्ठ २१–२२
आचार्य नंद दुलारे वाजपेई
४– गीता (९.३२) (१८.४६)

परमेश्वर सबमें एक समान है, उसे न कोई अप्रिय लगता है और न कोई प्रिय । भक्ति पूर्वक भजन करने वाले भगवान में हैं और भगवान उन भक्तों में रहते हैं । अनन्य भाव से भगवान की भक्ति करने वाला दुराचारी होता हुआ भी साधु माने जाने योग्य है, क्योंकि वह व्यवस्थित बुद्धि से भक्ति को ही प्रमुख महत्व देता है। ऐसा व्यक्ति जल्द ही महात्मा बन जाता है और चिरंतन रहने वाली शान्ति को प्राप्त कर लेता है ।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया है कि तू जो कुछ करता है, खाता है, होम करता है, दान देता है, अथवा तप करता है वह सब कुछ अर्पण कर दें । इस प्रकार व्यवहार करने से कर्मो के शुभ या अशुभ फल के बंधन से छूट जाएगा और कर्म के फल से सन्यास लेने के इस योग से मुक्त होकर मुझमें मिल जाएगा । अत: भगवद् भक्ति भी कृष्ण को सब कुछ अर्पण कर देने वाली बुद्धि से युक्त होकर करना चाहिए ।[1]

"कर्म त्याग रूप सन्यास गीता को मान्य नहीं है ।" [2] अपितु फल की अनाशक्ति से युक्त कर्म का समर्थन है । इसी से गीता का भक्ति मार्ग सुखकर और सुलभ है ।

इस तत्व को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि भगवान की भक्ति कभी नष्ट नहीं होती। दुराचारी व्यक्ति भी भगवान को अत्यधिक प्रिय है । भगवान के समत्वगुणों की चर्चा करते हुए पुन: कहा गया है कि उनका आश्रय लेने वाली स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र अथवा अन्त्यज आदि पाप योनि वाले भी परमगति को प्राप्त करते हैं, तो फिर पुण्यवान ब्राहमणों, भक्तों, राजर्षियों और क्षत्रियों का कहना ही क्या है, अर्थात उन्हें तो अवश्य ही सद्‌गति मिलती है । अत: इस अनित्य

१— *गीता — ८/६, ७/२३, ८/१३, ९/२५१*
२— *गीता — ७/२०—२५, ८/१६*

और दुःख कारक मृत्युलोक में आकर परमेश्वर का भजन अवश्य ही करना चाहिए । अतः परमेश्वर में मन लगाना उनका भक्त होना, पूजा करना, नमस्कार करना और तत्परायण होकर योग का अभ्यास करने से ही व्यक्ति भगवान को प्राप्त होता है । भगवान ने स्वंय अपने मुख से कहा हे कि मेरा भजन करके तू मुझे प्राप्त करेगा । कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान प्रत्यक्ष रूप वाले सगुण की भक्ति को ही महत्व देते हैं । उनका कथन है कि इस प्रकार भक्ति करके मत्परायण होता हुआ, कर्मयोग का अभ्यास करने से कर्म के बन्धनों से छूटकर व्यक्ति भगवान को पा लेता है ।

गीता ने भक्ति मार्ग को सुलभ कहा है । सदा सन्तुष्ट रहने वाला वाक संयमी दृढ़ निश्चयी और मन—बुद्धि को भगवान में अर्पित कर देने वाला भक्त भगवान को बहुत प्रिय है । अतः स्पष्ट है कि कर्मयोगी की अपेक्षा भक्तियोगी भगवान को ज्यादा प्रिय होता है ।

किन्तु प्रश्न उठता है कि स्वंय भगवान ने गीता (अध्याय ९ के २९वें श्लोक) में कहा था कि— "समोऽहं सर्वभूतेषु।" अर्थात मैं सभी प्राणियों के प्रति समान हूँ न तो मेरा कोई द्रेष्य है और न कोई प्रिय, तो फिर यहाँ यह कैसे कह दिया गया कि मेरा भक्त मुझे अतिशय प्रिय है। गीता के १२वें अध्याय में कहा गया है कि "जो श्रद्धा युक्त पुरूष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।" [१]

इसका अभिप्राय यह है कि इस अनन्त और अनादि सत्ता में साधक की प्रिय अप्रिय भावनाएँ मिलकर एकरस और आनन्दमय हो जाती है, इस आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति न होने

१— गीता — अध्याय १२—२०

तक ही, राग—द्वेष, सु:ख दु:ख, आदि भावनाओं के भ्रम जाल में साधक पड़ा रहता है । सब कुछ त्यागकर समबुद्धि सम्पन्न भक्त हो जाने पर भगवान के प्रियत्व का यह कारण साधक की भक्ति ही हो जाती है ।

सत्रहवें श्लोक में भक्त के अन्य गुणों का वर्णन किया गया है, जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मो का त्यागी है, वह भक्ति युक्त पुरूष मुझको प्रिय है ।[१] आगे पुन: भक्त के प्रियत्व का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है कि शत्रु और मित्र, मान—अपमान, शीत—उष्ण और सुख—दु:ख आदि अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति में एक समान समबुद्धि रखने वाला भक्त आसक्ति रहित होकर भगवान का प्रिय हो जाता है । निन्दा और स्तुति को समान समझने वाला मित भाषी या मौनी, जिस किसी भी परिस्थिति में सदा सन्तुष्ट रहने वाला, घर रहित स्थिर बुद्धि वाला भक्तिमान उपासक भगवान को प्रिय है ।[२]

इस प्रकार इसका प्रयोजन यही है कि मनुष्य को इसी जीवन में भगवत्भक्ति कर लेनी चाहिए ।

भक्ति की ही विशेषता का वर्णन करते हुए अध्याय १८ में भगवान ने कहा है, वह व्यक्ति जो यद्यपि सदैव कर्म करता रहता है, किन्तु मुझ पर ही पूर्ण—रूपेण निर्भर रहता है, मेरे अनुग्रह से अक्षय एवं अमर स्थान प्राप्त करता है । यदि तुम मुझ पर अपना मन केन्द्रित करो तो तुम मेरी कृपा से सभी कठिनाइयों को पार कर जाओगे, तुम भगवान की शरण में सम्पूर्ण हृदय से जाओ । हे अर्जुन उसी की कृपा से परम शान्ति एवं अमर स्थान पाओ ।[३]

१— *गीता — अध्याय १२—१७*

२— *गीता — अध्याय १२—१८*

३— *गीता — अध्याय १८—५६, ५८, ६२*

इस प्रकार भगवान को १२वें अध्याय में फिर से भक्ति का रहस्य विस्तार पूर्वक अर्जुन को समझाने की आवश्यकता हुई, क्योंकि केवल ज्ञान द्वारा संशय रहित हुआ जीव पंगु एवं स्थिर हो जाता है, उसे फिर से कृतिशील बनाने के लिए श्रद्धा की प्रेरक शक्ति की आवश्यकता होती है और इसी प्रेरक शक्ति का नाम भक्ति है । इस प्रकार भगवान ने भक्ति का एक नया संदेश और मार्ग प्रतिष्ठापित किया ।

गीता में ज्ञानयोग और भक्तियोग का समन्वय कर्मयोग में किया गया है, उसके दो पक्ष हैं – एक आन्तर भक्ति और दूसरी वर्हिभक्ति। आन्तर भक्ति द्वारा आध्यात्मिक और वर्हिभक्ति द्वारा व्यक्तिगत विकास को जोड़ा गया है । इन दोनों प्रकार की भक्ति के समन्वय का नाम ही पराभक्ति या फलरूपा भक्ति है । आन्तर भक्ति में सगुणोपासना द्वारा चित्तशुद्धि एवं चित्तेकाग्रता तथा ध्यान द्वारा पूर्णता का अनुभव प्राप्त करने का रहस्य गीता में समझाया गया है । साथ ही साथ जो ईश्वर मेरा पालनकर्ता और पिता है, उसका यह जगत है, इसलिए इस जगत को सुधारने का प्रयत्न करना मेरा पवित्र कर्तव्य है । यह समझकर अध्ययन, मनन, चिंतन एवं निदिध्यासन द्वारा प्रभु के ज्ञानमय और प्रेममय स्वरूप की भक्ति करने का मार्गदर्शन जगत को देने के कार्य में योगदान करना यही वर्हिभक्ति है । विश्वम्भर और विश्वरूप परमेश्वर दोनों की उपासना एक साथ चलनी चाहिए ।

आज इस जगत में चारों ओर अराजकता का बोलबाला है । मानव–जीवन में सदाचार, नैतिकता, सात्विकता, पूज्यों के प्रति आदरभाव और ईश्वर प्रेम का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इस अराजकता और जड़वाद के विरूद्ध जो भगवद्भक्त प्रभु की भक्ति करने के लिए अपना समस्त जीवन अर्पण करते हैं, उनको आश्वासन देते हुए भगवान कहते हैं ''ऐसे प्रभुकार्य में सतत् संलग्न भक्तों का योगक्षेम मैं स्वंय चलाता हूँ, जो भक्त योग नहीं कर सकते, किन्तु यथाशक्ति, यथोचित एवं यथा समय प्रभुकार्य करने के लिए तैयार रहते हैं, उन्हें भी भगवान आश्वासन देते

हुए कहते हैं ।[1]

"जो कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र पुष्प फल, जल आदि का अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं सगुण रूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।"[2]

जो व्यक्ति अनपढ़ हैं, प्रभुकार्य से विरत तथा दुराचारी हैं, उन्हें भी भगवान आश्वासन देते हुए कहते हैं कि यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है, अर्थात उसने भली–भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है । वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परमशक्ति को प्राप्त होता है । हे अर्जुन तू निश्चय पूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।[3]

इसी प्रकार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य आदि उच्च वर्णों में नहीं है, उनको भी भगवान, आश्वासन देते हुए कहते हैं–"हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डाल आदि जो कोई भी हो वे भी मेरे शरण होकर परमगति को प्राप्त होते हैं ।[4]

और अन्त में सभी को कहते हैं – आबाल, वृद्ध नर–नारी सभी प्रभु की आन्तर एवं वाह्य भक्ति द्वारा व्यक्तिगत और वैश्विक विकास में अपना योगदान करते रहें ।[5]

यही श्रीमद्भगवदगीता के भक्तियोग का सार – तत्व है ।

१– *गीता– अध्याय – ९–२२*
२– *गीता – ९–२६*
३– *गीता– ९–३०, ३१*
४– *गीता – ९–३२*
५– *गीता – ९–३४*

पाँचरात्र– आगमों में भक्ति –

पाँचरात्र साहित्य के अन्तर्गत ईश्वर की पंचविध अर्चाविधि का प्रतिपादन किया गया है । अभिगमन– अर्थात, मन, वचन और कर्म से देव प्रतिमा में ध्यान केन्द्रित करके देव मन्दिर में जाना, उपादान अर्थात धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा सामग्री की संचय करना, इज्या– अर्थात देवमन्दिर में जाकर विधि पूर्वक पूजन करना, स्वाध्याय अर्थात जिस देवता की पूजा करनी है उसके मंत्र का विधि पूर्वक जाप करना, योग अर्थात देवमूर्ति का ध्यान करना और उसके स्वरूप तथा गुणों में तन्मय हो जाना । इसी को परम संहिता में समय, समाचार, स्वाध्याय द्रव्य संग्रह, शुद्धि त्याग, स्तुति और ध्यान के रूप में आठ भेदों में विभक्त किया गया है ।[१]

"ईश्वर की भक्ति ही एकमात्र परमपुरूषार्थ प्राप्ति का साधन है ।"[२] "भक्ति सगुण साकार की हो सकती है, निराकार की नहीं ।"[३] ईश्वर की भक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब व्यक्ति अपने को ईश्वर की कृपा के आश्रय छोड़ दें । अर्हिबुध्न संहिता के अनुसार जिस प्रकार नाव पर बैठकर व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है, उसे पार ले जाने की समस्त जिम्मेदारी नाव खेने वाले की होती है, उसी प्रकार ईश्वर की शरण रूपी नाव पर बैठकर भक्त को निश्चिन्त हो जाना चाहिए।[४] शरणागति का लक्षण करते हुए संहिताकार ने लिखा है कि " मैं अपराधों का घर हूँ, अकिंञ्चन हूँ, मेरी अन्य गति नहीं है । हे नाथ ! आप ही मेरे उद्धार के लिए उपाय बनिए । इस प्रकार की भक्त की प्रार्थना बुद्धि शरणागति कही जाती है।" [५] "इस शरणागति के ईश्वराभिमत गुणों का अर्जुन, प्रतिकूल गुणों का वर्णन रक्षा का विश्वास, रक्षार्थ निवेदन, अपनी तुच्छता का अनुभव और आत्मनिक्षेप ये छह कोटियाँ हैं।" [६]

१– *परम संहिता – ३/३६*
२– *परम संहिता – १०/७९*
३– *परम संहिता – ३/६/७*
४– *अहिर्बुध्नसंहिता – ५७/५१*
५– *अहिर्बुध्नसंहिता – ३७–३०*
६– *अहिर्बुध्नसंहिता – ३७–२६–३१*

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण पाँचरात्र साहित्य भक्ति के उदात्त भावों और उसके अवयव के विवरणों से भरा पड़ा है ।

"शान्तिपर्व में सात्वत एवं पांचरात्र की पहचान की गई है"[१] और यह कहा गया है कि ''चित्रखण्डी'' नाम सात ऋषियों ने (पाँचरात्र) शास्त्र घोषित किया और नारायण ने उनसे कहा कि यह शास्त्र लोक में प्रामाणिक होगा और राजा वसु वृहस्पति से इसे सीखेंगे । शान्तिपर्व के अध्याय ३३६ में ऐसा आया है कि क्षीर सागर के उत्तर में श्वेतद्वीप नामक राज्य था, जहाँ नारायण के भक्त रहते थे, जो एकान्ती कहे जाते थे और पंचरात्र एकान्त धर्म कहा जाता था । पंचरात्र सम्प्रदाय का एक विचित्र सिद्धांत है, जो चार व्यूहों वाला होता है । यथा– परम व्यक्ति वासुदेव हैं, प्रत्येक आत्मा संकर्षण है, प्रद्युम्न है जो संकर्षण से उत्पन्न होता है ।[२] वह वही वासुदेव के चार रूपों वाला सिद्धांत है । शान्ति पर्व में ऐसा उल्लिखित है कि ''सांख्य, योग, पाँचरात्र,, वेद एवं पाशुपत ऐसी पाँच विधाएँ है, जिनका दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न है तथा कपिल (सांख्य), हिरण्यगर्भ (योग) अपान्तरतमा (वेद), शिव (पाशुपत) एवं स्वंय भगवान (पंचरात्र) द्वारा प्रवर्तित है ।"[३]

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में ऐसा वक्तव्य आया है, – ''ब्रह्म की खोज के लिए पाँच सिद्धांत है – यथा सांख्य, योग, पाँचरात्र, वेद एवं पाशुपत[४] । शान्तिपर्व के आधार पर कुछ लेखक (विशेषत: रामानुज सम्प्रदाय) के ऐसा कहते है कि सम्पूर्ण पाँचरात्र पद्धति में वैदिक प्रामाणिकता है ।"[५] किन्तु अपरार्क इसे पूर्णरूपेण वैदिक नहीं मानते ।

यह दृष्टव्य है कि महाभारत में भी नारद का नाम पाँचरात्र से सम्बन्धित है । शान्तिपर्व में

१– *शान्तिपर्व – ३३४/२४–२५*
२– *शान्तिपर्व – ३३९/४०–४१*
३– *शान्तिपर्व – ३४८/८*
४– *विष्णुधर्मोत्तरपुराण–१/७४/३४*
५– *शान्तिपर्व–३३९/६८*

उल्लिखित है – "यह रहस्यमय सिद्धांत जो चारों वेदों से समन्वित है, जिसमें सांख्य एवं योग के कल्याणकारी फल है, और जो पाँचरात्र के नाम से विख्यात है, सर्वप्रथम नारायण के अध ारों से प्रस्फुटित हुआ और फिर नारद द्वारा सुनाया गया ।"[१]

इस प्रकार हम कह सकते है कि सम्पूर्ण पाँचरात्र येन–केन प्रकारेण भक्ति पर ही बल देते हैं ।

<u>जैन सम्प्रदाय में भक्ति</u> –

मानव जीवन में भक्ति की उपादेयता को जैन और बौद्ध जैसे बुद्धिवादी दर्शन जिन्हें सनातनी परम्परा में नास्तिक दर्शन माना जाता है, भी नकार नहीं सके । जैन मत में मोक्ष के तीन साधनों का प्रतिपादन किया गया है ।१–सम्यक् दर्शन २– सम्यक् ज्ञान ३– सम्यक् चरित्र।

तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय सिद्धांतों में व्यक्ति (साधक) की श्रद्धा ही सम्यक् दर्शन है।[२] श्रद्धा भक्ति का आवश्यक उपादान है, जिसके अभाव में भक्ति का विकास सम्भव नहीं हो सकता । परवर्ती काल में तीर्थंकरों की मूर्तियों की स्थापना एवं उनकी षोडशो चार विधि से सम्पादित की जाने, अर्चना से जैन आचार पद्धति पर भक्ति का प्रभाव सुस्पष्ट एवं निश्चित होता है । जैन धर्म के अनुयायियों ने ग्रीक प्रभाव में आकार मन्दिरों में अपने तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ स्थापित की ।

''भक्ति में समर्पण का भाव प्रधान होता है, भक्त अपने जीवन को तभी सार्थक मानता है, जब वह भगवान के चरणों पर समूचा चढ़ जाए । चरणों पर चढ़ जाने का तात्पर्य यह नहीं

१– *शान्तिपर्व–३३९/१११–११२*
२– *तत्वार्थ सूत्र – १/२*

है कि भक्त अपनी बलि दे दे। आगे चलकर तान्त्रिक सम्प्रदाय में बलि को भक्ति के रूप में स्वीकार किया गया । जैन भक्त के समर्पण में एक निराला सौन्दर्य था, उसने अपने प्रत्येक अंग की सार्थकता तभी मानी जब वह जिनेन्द्र की भक्ति में तल्लीन हो ।"[१]

आचार्य समन्तभद्र ने स्तुति विधा में लिखा है कि प्रज्ञा वही है, जो तुम्हारा स्मरण करे, सिर वही है जो तुम्हारे पैरों पर विनत हो, जन्म वही है जिसमें आपके पद का आश्रय लिया गया हो। आपके मत में अनुरक्त होना ही मांगल्य है । वाणी वही है, जो आपकी स्तुति करे और विद्वान वह ही है जो आपके समक्ष झुका रहे ।[२]

बाणभट्ट सूरि ने भी "जिन स्तवनम्" में लिखा है, "वे आँखे नहीं है, जो आपका दर्शन नहीं करती, वह चित्त नहीं है, जो आपका स्मरण नहीं करता, वह वाणी नहीं, जो आपके गुणों को नहीं गाती और वे गुण नहीं जो आपके सहारे न टिके हो ।"[३]

जैन भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक है । जैन अपभ्रंश के 'दोहापाहुड' आदि ग्रन्थों में तान्त्रिक युग के कतिपय शब्द पाए जाते है, फिर भी जैन भक्ति चाहे पंचपरमेष्ठी से सम्बन्धित हो, चाहे यक्ष आदि देवताओं से अथवा पद्मावती आदि देवियों से । हिंसा से यत्किंचित कभी भी प्रभावित नहीं हुई । जैन मन्दिर और अन्य भक्तिस्थल अहिंसा के सदैव निदर्शन बने रहे ।

जैन आचार्यो ने भक्ति के १२ भेद किए हैं वे इस प्रकार हैं :—

१— हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि
डा० प्रेमसागर जैन
प्रथम संस्करण १९६३ पृष्ठ २०

२— स्तुति — विद्या
(आचार्य समन्तभद्र ११३वाँ श्लोक)

३— जैन स्तोत्र संदोह, शान्तावेषापरभिधानं साधारण जिनस्तवनम्। (छठाँ श्लोक)
. (बाणभट्ट सूरि)

सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, आचार्य भक्ति, पंचगुरू भक्ति, तीर्थंकर भक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, निर्वाण भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति और चैत्यभक्ति ।[1] तीर्थंकर और समाधिभक्ति का पाठन एक दो अवसरों पर ही होता है । अत: उनका अन्य भक्तियों में अर्न्तभाव मान लिया गया है ।[2] अत: दस भक्तियों की ही मान्यता है ।

इन भक्तियों की रचना आचार्य कुन्द—कुन्द (विक्रम की पहली शताब्दी ने) संस्कृत भाषा में की है ।[3]

जैनों का भगवान वीतरागी है । वीतराग अर्थात राग—द्वैष रहित होना । इसी वीतराग को ही जिन कहा जाता है । वीतराग बनने के लिए 'मोहनीय कर्म' को हटाना आवश्यक है, और संसार का मोह वीतराग की भक्ति के बिना नहीं हट सकता ।

जैसे "दर्पण में मुँह देखने से हम अपने चेहरे की विकृति को दूर कर सकते हैं, उसी प्रकार वीतराग दर्शन से हम अपने मन—वचन क्रिया की विकृति दूर करके अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं, यही भक्ति है ।"

१— 'देशभक्ति': नामक ग्रंथ में इन भक्तियों का संकलन हुआ है। यह ग्रन्थ सन १९२१ में शोलापुर से प्रकाशित हो चुका है। इसमें आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ का मराठी अनुवाद भी दिया गया है।

<u>और</u>

"दशभक्त्यादिसंग्रह:" नामक दूसरा ग्रंथ "श्री सिद्धसेन जैन गोयलीय के सम्पादन में सलाल (साबरकांठा), गुजरात से बीर निर्वाण संवत् २४८१ में प्रकाशित हुआ है। इसमें आचार्य पूज्यपाद की संस्कृत — भक्तियों का सान्वय हिन्दी अनुवाद दिया है।

२— या दोन भक्तींचा एक दोन क्रिये मध्ये च उपयोग होतो यास्तव त्रंथकारानी या दोन भक्तींचा वर सांगितलेल्या भक्ती मध्यें च अंतर्भाव करून 'दशभक्ति' हें ग्रन्थाचें नांव ठेविलें अहि।

'दशभक्ति: — जिनदास पार्श्वनाथकृत प्रस्तावना (पृष्ठ १)

शोलापुर सन १९२१ ई०

३— 'संस्कृता: सर्वा भक्तय: पादपूज्यस्वामिकृता: प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृता: ।"

"प्राकृतसिद्धभक्ति: संस्कृत टीका (प्रभाचन्द्राचार्यकृत)

दशभक्ति: शोलापुर सन १९२१ ई० पृष्ठ ६१

जैन धर्म में ऐसे ही वीतराग, जिनया कैवल्य प्राप्त महात्माओं की भक्ति प्रधानता से की जाती है । इस भक्ति का मूल और फल है – सम्यक् दर्शन या सद्विवेक । जैन–धर्म में निश्चय दृष्टि या परमार्थिक विचार से भक्ति का अर्थ होता है – ऐसा दर्शन जिससे हम समझ जाये कि परमात्मा और हम विभक्त नहीं है – व्यवहार दृष्टि से हमारे आत्मा पर अज्ञान का आवरण छा गया है, जिसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है और जिसे हटाते ही हम स्वंय केवल परमात्मा हो जाते है ।

भक्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग को जैन शासन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के नाम से सम्बोधित किया गया है । मोक्ष के मार्ग में भक्ति को या सम्यग्दर्शन को प्रथम साधन माना गया है । वह सम्यग्दर्शन देव, गुरू और धर्म की भक्ति को कहते है । देव की भक्ति प्रभु से हम विभक्त न रहें, इसका प्रयत्न है । गुरू की भक्ति गुरू के उपदेशों का सेवन है और धर्म की भक्ति जिन के वचनों को धारण करके चरमसिद्ध प्राप्त करना कहलाती है ।

ऐसा कोई जैन आचार्य नहीं, जिसने भगवान के चरणों में स्तुति स्रोतों के भक्ति पुष्प न बिखेरे हो । केवल स्तुति स्तोत्र या स्तव–स्तवन ही नहीं, पूजा, वन्दना, विनय, मंगल और महोत्सवों के रूप में जैन भक्ति पनपती रही है ।

जिनेन्द्र के भक्तों में देवियों का महत्वपूर्ण स्थान है इनमें पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी ज्वालामालिनी, सच्चियामाता, सरस्वती और कुरू कुल्लाका विवेचन किया गया है जिनकी पूजा भक्ति होती रही है । उनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ रचे गए, मन्दिर, मूर्तियों का निर्माण हुआ और स्तुति स्तवन रचे गए ।

जैनों में उस मूर्ति का वर्णन मिलता है, जिसे नन्दराज कलिंग से उठा ले गए और जिसे सम्राट खारवेल १७० ई० पूर्व में वापस लाया । अभी लोहिनीपुर से भी एक जिन् मूर्ति मिली है।

आबू के जैन मन्दिर आदि ऐसे नयनाभिराम हैं, जिन्हें देखने के लिए केवल जैनभक्त ही नहीं, सभी जातियों और देशों के लोग लालायित रहते हैं। जिसकी शुष्क धरा को जैन भक्तों ने सुन्दर पुष्पों से गूँथा था, वे अपनी भक्ति सुगन्धि विकीर्ण करते आज भी जीवित हैं। इस प्रकार जैनियों के भक्ति भाव केवल स्तुति स्तोत्रों में ही नहीं, मनमोहक मूर्तियों में भी विखरे हुए हैं।

जैन पुरातत्व में तीर्थंकरों की, शासनदेवियों की और देवों की ही मूर्तियाँ अधिक है। उन्हीं से सम्बन्धित मन्दिर और चित्र हैं, भगवान हैं और उनके भक्त है। उनकी भक्ति से सम्बद्ध महोत्सव, पूजा उपासना, वन्दना के 'एकते एक आगर' दृश्य हैं। सब कुछ भक्तिमय है। अत: यह कहना अनुपयुक्त है कि जैन धर्म ज्ञान प्रधान है, उसमें भक्ति का स्थान नहीं है।

बौद्ध सम्प्रदाय में भक्ति तत्व :

इतिहासकारों का मत है कि जिस समय भगवान बुद्ध का अवतार हुआ, उस समय तीन मतों की विशेष प्रधानता थी । वैदिक मत में यज्ञों में पशु–बलि की प्रथा बढ़ गई थी । जैनी लोग केशलुन्चन आदि कर्मो के द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाने आदि तपस्या में रत थे और नास्तिक लोग इन दोनों मतों की खिल्ली उड़ाकर परलोक के अस्तित्व का अपलाप करने तथा इहलोक के ऐश्वर्य को ही जीवन का आदर्श मानने का प्रचार कर रहे थे । इसी प्रकार की स्थिति में भगवान बुद्ध अवतरित हुए । महाकवि जयदेव ने 'गीत गोविन्द' में लिखा है – 'हे देव, हे हरि । आपकी जय हो, जय हो । अहा! यज्ञ का विधान करने वाली श्रुतियों की आप निन्दा करते हैं, क्योंकि हे करूणा के अवतार आपने धर्म के नाम पर होने वाले पशुवध की कठोरता दिखाई । इसीलिए हे केशव ! आपने बुद्ध शरीर धारण किया है।' [१]

यद्यपि बुद्ध ने किसी प्रवचन में ईश्वर की उपासना का उपदेश नहीं दिया और अपने को कोई अवतारी पुरूष नहीं बतलाया, फिर भी उनको जीवन काल में ही लोग देवतुल्य आदर सत्कार प्रदान करते थे । साधारण प्राण से लेकर बड़े–'बड़े राजा महाराजा भिक्षुसंघ के साथ भगवान बुद्ध का सत्कार करके और उनके प्रवचनों को सुनकर अपने को कृतार्थ समझते थे, बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद जो लोक में पहली पूजा प्रारम्भ हुई, वह थी त्रिरत्न वंदना– "मैं बुद्ध के शरण जाता हूँ, धर्म के शरण जाता हूँ, संघ के शरण में जाता हूँ ।"[२] इस त्रिरत्न वंदना में हमें पहले भक्ति

१– *निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।*
सदयहृदयदर्शित पशुघ्यातम्!।
केशव धृतबुद्धशरीर, जय जय देव हरे।
(गीत गोविन्द – जयदेव)
इससे यह सिद्ध होता है कि विष्णु भगवान ने ही बुद्ध के रूप में अवतार ग्रहण किया था।

२– *बुद्धं शरणं गच्छामि।*
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

का दर्शन होता है । यह वैधी भक्ति का उज्जवल उदाहरण है । बौद्ध धर्म ने त्रिरत्न की शरणागति के द्वारा दैवी गुणों की साधना की ओर मनुष्यों को प्रेरित करके विश्व का असीम उपकार किया। इसी कारण महाकवि अश्वघोष ने अपने बुद्ध चरित में भगवान बुद्ध की वंदना करते हुए लिखा है '' जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ श्री की सृष्टि करते हुए विधाता को जीत लिया, लोगों के अन्तः करण के अन्धकार को दूर करते हुए सूर्य को परास्त कर दिया, भवताप को हरते हुए आकाशस्थ चन्द्रमा की चारूता को पराजित किया, उन अर्हन् (सर्वपूज्य) भगवान बुद्ध की मैं वंदना करता हूँ, जिनकी इहलोक में कोई उपमा नहीं है ।" [१]

पुराणों ने बुद्ध को साक्षात विष्णु का अवतार माना है । पुराणों में जहाँ दस अवतारों का वर्णन आता है, वहाँ बुद्ध को भी नवम् अवतार के रूप में माना गया है । आद्य श्रीस्वामी शंकराचार्य के गुरू गौड़पदाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद की व्याख्या रूप अपनी एक कारिका में बुद्ध की वन्दना की है ।

भगवान बुद्ध के परिनिर्माण के पश्चात् उनके वचनों का संकलन करने के लिए राजगृह के पास सप्तपर्णी गुफा में भिक्षुओं की एक सभा हुई । वही सूत्र पिटक और विनय पिटक की रचना हुई । इस संगीत के बाद एक साथ त्रिरत्न वन्दना और सूत्रपाठ करने की प्रथा का प्रचार हुआ । बुद्धवचन के पाठ से पुण्य संचय होता है, यह श्रद्धा विकसित हुई ।

बुद्ध के निर्वाण के बाद उनकी अस्थियों को लेकर आठ स्तूप विभिन्न स्थानों में बनाए गए थे । अशोक ने उस स्तूपों से अस्थियों को निकालकर अस्सी हजार विभागों में विभाजित किया और उनमें से प्रत्येक भाग के ऊपर भारत तथा अन्य दूसरे देशों में स्तूपों का निर्माण किया गया

१— *श्रियः पराद्धर्या विधातृ विधतृजित्।*
तमो निरस्यन्नभिभूतभानुभृत।
नुदन्निदाधं जितचारूचन्द्रमाः
स वन्द्यतेडर्हन्निह यस्य नोपमा।।

(बुद्धचरित—अश्वघोष)

और उन स्तूपों की धूप दीप आदि के द्वारा पूजा होने लगी । इस प्रकार सम्राट अशोक के पश्चात् ईशा की प्रथम शताब्दी में सम्राट कनिष्क के राज्यकाल तक बौद्ध धर्म में भक्ति के ये ही दो मूलतत्व श्रद्धा और शरणागति प्रमुख रूप में बौद्ध संघ को प्रेरणा और शक्ति प्रदान करते रहे । कनिष्क के काल में पहले पहल बुद्ध की प्रतिमा बनायी गई और तबसे प्रतिमा पूजा का प्रचार शुरू हुआ । इतिहासकारों का मत है कि इसी काल में बौद्धधर्म से एक नए प्रस्थान का उद्‌भव हुआ और यह हीनयान तथा महायान दो भागों में विभक्त हो गया ।

हीनयान में तो भक्ति गौण रूप से शरणागति और श्रद्धा, शील और आचार सम्पन्न साधन के अंग के रूप में दिखायी देती है, क्योंकि इसके बिना कोई प्रगति ही नहीं हो सकती । जब शील–आचार प्रमुख बुद्धोपदिष्ट साधन मार्ग में चलकर भिक्षु अर्हत् बनता है, तब उसको निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है । यही हीनयान की साधना का लक्ष्य है ।

महायान की साधना यहाँ समाप्त नहीं होती, उसका सिद्ध साधक अर्हत नहीं बोधिसत्व है, उसमें यद्यपि निर्वाण प्राप्ति की योग्यता होती है, फिर भी वह लोक कल्याण के लिए निर्वाण को ठुकरा देता है ।

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सम्बोधौ कृतचेतसा ।
तन्नास्ति यन्न कर्तव्यं जगयुद्धरणाशयै : ।।

सारांश यह है कि जगत के उद्धार के लिए बोधिसत्व सब कुछ कर सकते हैं । इसीलिए महायान सम्प्रदाय की भक्ति हीनयान की अपेक्षा श्रेष्ठ है । उसका लक्ष्य अर्हत् नहीं बुद्धत्व की प्राप्ति है ।

कनिष्क के समय जो संगीति हुई थी, उसमें बौद्ध तत्व ज्ञान, अभिधम्म सूत्रों का संकलन हुआ था । यह अभिधम्म पिटक तीसरा पिटक था । त्रिपिटक की रचना के बाद योगमार्ग की ओर कुछ साधकों का ध्यान गया, किन्तु अन्त में गुरू–शिष्य परम्परा के द्वारा विकसित होकर इस योगमार्ग के भीतर से बौद्ध धर्म का तीसरा प्रस्थान वज्रयान (तन्त्रयान) प्रादुर्भूत हुआ । तन्त्रयान में भक्ति के दो और नए तत्वों का समावेश हुआ, गुरू और सिद्धि । अतएव तन्त्रयान प्रधान नेपाल और तिब्बत के बौद्धों में त्रिरत्न के साथ गुरू की वंदना प्रचलित है ।

अध्याय : तृतीय

प्रारम्भिक पुराणों में भक्ति

- पुराण संरचना का उद्देश्य
- पुराणों का महत्व
- पुराणों का रचनाकाल
- पुराणों का अनुक्रम
- प्रारम्भिक पुराण
  - –विष्णु पुराण
  - –मत्स्य पुराण
  - –वायु पुराण
  - –ब्रह्मांड पुराण
- त्रिदेव कल्पना – स्पर्धा एवं समन्वय
- हरिहर कल्पना

प्रारम्भिक पुराणों में भक्ति

भारतीय लोकमानस को जिस साहित्य ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह है पुराण साहित्य । वस्तुतः पुराण साहित्य भारतीय संस्कृति विचारधारा एवं सभ्यता के विश्वकोष हैं, वर्तमान संदर्भों में भी पुराणोपयोगिता को किसी प्रकार से नकारा नहीं जा सकता । हाँ, उनके अनुशीलन के लिए सम्यक् एवं विवेकपूर्ण विवेचना की आवश्यकता है ।

वेदों से प्रारम्भ होकर, उपनिषदों में आकार लेकर भगवद्गीता में एक विकसित स्वरूप ग्रहण करने वाले भक्ति तत्व ने पुराणों में एक लोकप्रिय विचारधारा का स्वरूप ग्रहण किया है।

पौराणिक युग में भक्ति आन्दोलन विभिन्न प्रकार की वाह्य और आन्तरिक विरोधी शक्तियों से लोहा लेने और पहले से चले आने वाले आन्दोलन को प्रबलतम रूप देने की दृष्टि से आन्दोलन का वह संघर्षमय युग है, जिसे सम्पूर्ण देश के भागवतों ने संगठित होकर आन्दोलन की सफलता का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास किया था । यही वह युग है, जिसने वेदमत और लोकमत के समन्वय के लिए पहली बार सकल चेष्टा की थी, जिसने वेद विरोधियों तथा कट्टर वेदानुयायियों के बीच एक ऐसे पुल का निर्माण किया था जिस पर वैदिकी हिंसा तथा परमो धर्मः, साथ–साथ चल सकते थे, और इसी युग ने भक्ति के आन्तरिक एवं वाह्य अंगों का पूर्ण विकास किया था जो परवर्ती भागवतों के भक्ति तत्व एवं आचार का आधार बना ।

भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण ग्रन्थों में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है । इनमें राजनीतिक इतिहास, धर्म, दर्शन एवं समाज के साथ–साथ भक्ति के अनेक तत्व मिलते हैं, जो हमारी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उपादेय सिद्ध हो चुके है । पुराणों के संकलनकर्ता ने एक पृथक् शैली का सहारा लेकर इसे एक संहिता के रूप में समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। पुराणों के सृजन का उद्देश्य वेद–विषयक सामग्री के साथ–साथ लौकिक जीवनधारा को समाज के सम्मुख लाना था । इनमें समाज की आवश्यकता के अनुरूप समसामयिक तथ्यों का

बहुतायत प्रयोग किया गया है । अतः भारतीय संस्कृति का भली–भाँति अध्ययन करने के लिए पुराणों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है ।

पुराणों की उत्पत्ति और विकास के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं, जहाँ कुछ भारतीय विद्वान पुराण साहित्य की उत्पत्ति वेदों के साथ–साथ सृष्टि के आरम्भ से मानते हैं, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वान पुराणों को १६वीं, १७वीं शताब्दी की रचना स्वीकार करते हैं । वैदिक साहित्य का सम्यक अनुशीलन करने से ज्ञात होताा है कि "वैदिक काल में भी पुराण विद्यमान थे।"[१] पुराणों की स्थिति चाहे किसी रूप में क्यों न रही हो, वैदिक काल में भी थी ।

अतः पुराण साहित्य उतने नवीन नहीं है, जितना कि पाश्चात्य विद्वान इसे मानते हैं । हाँ यह बात अवश्य है कि समसामयिक आवश्यकता के अनुरूप इसके कलेवर में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है और पुराण साहित्य के बहुत से भाग नष्ट–भ्रष्ट भी हो गए हैं । इनमें लौकिक जीवनधारा के साथ–साथ धार्मिक जीवनधारा को भी एक साथ उपन्यस्त किया गया है।

वेद और पुराण भारतीय संस्कृति के आगार हैं । यदि वेद भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च उद्गम स्थान है तो पुराण भारतीय संस्कृति के शाश्वत स्रोत हैं । हिन्दू संस्कृति सम्बन्धी शायद ही कोई ऐसे विषय होंगे, जिन पर व्यास जी ने पुराणों में प्रकाश न डाला हो । वेदों के बाद भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप हमे पुराणों से ही प्राप्त होता है । अतः पुराण भारतीय संस्कृति के मेरूदण्ड हैं । व्यास जी ने महाभारत में कहा है – इतिहास पुराणाम्यं वेदं समुपवृहयेत्।[२]

१– अथर्ववेद – ११/७/२४ शतपथ ब्राह्मण – ११/५/६/८, १३/४/३/१३, १५/६/१०/६, तैत्तिरीयाण्यक २/९, वृहदारण्यक २/४/१०, छान्दोग्योपनिषद–७/१/१.

२– डॉ० हरवंश लाल शर्मा – सूर और उनका साहित्य पृष्ठ– १६५

पुराणों से ही अपने पूर्वजों का निर्मल विचार जाना जाता है, और पुराणों को पढ़ने से ही विभिन्न जातियों की उत्पत्ति देशभेद, ज्ञान–विज्ञान तथा संसार के भिन्न–भिन्न भागों के भिन्न–भिन्न नियम मालूम होते हैं । पुराण भारतीयों के परमधन हैं इनके ज्ञान के बिना संस्कार अंधकारमय है । उपासना के भण्डार, मुक्ति के द्वार, ज्ञान के अकर भक्ति के साधन और कर्म के प्रदीप पुराण ही हैं । भगवद्वतारों की विशेषता का वर्णन करती हुई, "पुराणों की कथाएँ जीव को ईश्वर के चरण में पहुँचा देने में अत्यन्त उपयोगिनी हैं । सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय पर पुराणों की अमिट छाप अंङ्कित है ।"[१] पुराणों के पवित्र प्राङ्गण में भक्ति की भागीरथी बहती है । पुराणों की कथाओं से प्राचीन भारत के सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन का प्रत्यक्ष चित्र उपस्थित हो जाता है ।

जब वैदिक कालीन दैवीय शक्तियाँ और कथानक पहुँच के बाहर होने लगे । तब पुराणों ने उनको एक नवीन और प्रचलित स्वरूप दिया और इस प्रक्रिया में पुराणों ने तमाम प्रचलित कथानको को आत्मसात किया । पुराणों ने परम्परागत संस्कृति और समकालीन धार्मिक विचारों के एक सेतु का कार्य किया ।

१— देवताओं के प्रति पूर्ण वैयक्तिक और साकार विचार ।

२— अवतार की अवधारणा, जिसने अवतार को किसी भी स्वरूप में सम्मिलित करने के लिए सामान्यीकृत किया ।

३— प्रतिबिम्बों और मन्दिरों का प्रार्दुभाव ।

४— पूजा का एक व्यक्तिगत रूप से किसी व्यक्ति के प्रति सम्मान का सूचक होना ।

५— जप, तप ध्यान, तीर्थ और दान पर विशेष जोर ।

६— पवित्र धर्मग्रन्थों का प्रचलित भाषा में प्रयोग और उनका आम जनता में पहुँचना ।

१— पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी— पुराणतत्व मीमांसा (द्वितीय) संस्करण—१९९० पृष्ठ—१

इन सबके सम्मिलित योगदान ने पुराणों को लिखने के लिए प्रेरित किया । इन उपर्युक्त तत्वों की सहायता से पुराणों ने तमाम आस्तिक समुदायों को व्यवस्थित किया, तथा उनमें वेदान्त और सांख्य के तत्वों को प्रविष्ट कराया ।

पुराणों के माध्यम से ही वैदिक आख्यानों को तथा यज्ञ विशेष को बड़े ही सरल ढंग से कथाओं के रूप में उल्लिखित किया गया है । इसके अतिरिक्त वैदिक आख्यानों तथा उपाख्यानों से इतर आख्यानों को पुराणों में समाहित किया गया है, जिन्हें वैदिक ग्रन्थों में समाहित न किया जा सका था । इस सम्बन्ध में डॉ० एस०एन० राय का मत विशेष तर्कसंगत लगता है कि यहाँ "पुराण शब्द का तात्पर्य इसके मौलिक अर्थ ''आख्यान'' से भिन्न नहीं है ।"[१] आख्यानों के वैदिक स्वरूप को देखने से प्राय: यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में इन्हें विकसित होने का मौका नहीं मिल सका था, तथा इनके आधार पर और इन्हीं की भाँति अनिबद्ध आख्यानों का भी समावेश कर एक पृथक् साहित्य का उत्तरकाल में उद्भव और विकास नितान्त सम्भव था।[२]

वैदिक वाङ्मय अपनी क्लिष्टता के कारण सर्वसुगम नहीं था, अत: वेदोक्ति को पुराणों के माध्यम से प्रस्तुत करने का एक मुख्य कारण यह भी था कि वेदों की क्लिष्टता से अपरिचित लोक समुदाय पुराणों की कथाओं के द्वारा आसानी से इसे ग्रहण कर सके ।

यहाँ डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय का मत तर्कसंगत लगता है कि पुराणों का मूल उद्देश्य अपने ग्रन्थों में उच्च स्वर के साहित्य का परिचय देना नहीं था, इसके विपरीत उन्हें उच्चकोटि के धर्ममूलक और दर्शन मूलक तत्वों को सरल और सुग्राह्य शैली में उतारना था ।

स्पष्ट है कि पुराणों के संकलन की प्रक्रिया में आख्यानों का महत्वपूर्ण योगदान है । अपनी रचना से पूर्व पुराण आख्यानों तथा वेदों का पर्याय था, किन्तु मात्र आख्यानों के संकलन से किसी विशद साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता है । अत: पुराण रचनाकारों ने एक पृथक शैली विशेष

१— एस०एन० राय : पौराणिक धर्म और समाज प्रथम संस्करण पृष्ठ —३
२— वही

को अपनाया और उसमें अधिक से अधिक विषयों को आख्यानों का रूप देते हुए एक विशाल ग्रंथ इतिहास पुराण की रचना की, जिसे पन्चम वेद भी कहा जाता है । "इतिहास पुराणं पन्चमं वेदानां वेदम् ।" [१]

हमारे प्राचीन भारत में चौदह विधाओं की विशेष उपयोगिता है, जहाँ पुराणों का स्थान सर्वोपरि है । वेदों को भी अधिक महत्व दिया गया है, किन्तु उसकी व्याख्या को समझने के लिए पुराणों का ज्ञान आवश्यक है ।

"इतिहासपुराणाम्यां वेदं समुपवृहंयेत । विभेत्यल्पश्रुताद् वेदों मामयं प्रहरिष्यति ।" [२]

वेदों की गूढ़ता तथा क्लिष्टता को समझने के लिए पुराणों का जाननाा आवश्यक है । ये इतनी सरल भाषा और शैली में लिखे गए हैं कि सर्वग्राहय हैं और इन्हें आसानी से समझा जा सकता है ।

पुराण प्रारम्भ में प्राकृत भाषा में लिखे गए थे, ऐसा पार्जीटर, स्मिथ, रैप्सन, जैक्सन, विण्टरनित्स तथा कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों का मानना है, किन्तु बाद में इन्हें संस्कृत भाषा में अनूदित किया गया । चूँकि भारत में पहले प्राकृत भाषा का ही बोल–बाला था, अतः पुराणों को लिखने में भी प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया था, किन्तु बाद में इसे संस्कृत भाषा में इसलिए लिखा गया, क्योंकि समस्त ग्रंथ, वेद इत्यादि संस्कृत भाषा में लिख गए थे ।

अतः पुराणों को संस्कृत भाषा का आकर ग्रन्थ कहा जाता है ।

१– *छान्दोग्योपनिषद – ७.१.२*

२– *महाभारत – १.१.२६७, वशिष्ठ धर्मसूत्र २७/६*

वायु पुराण – १.२०१.

पुराण संरचना का उद्देश्य :

महाभारत तथा वायु पुराण में पुराणों का मूल उद्देश्य वेदोपवृंहण बताया गया है ।[1]

"इतिहासपुराणाम्यां वेदं समुपवृंहयेत् ।"[1]

पुराणों के द्वारा ही वेदों में निहित ज्ञान, धर्म दर्शन को सम्यक् रूपेण जाना और समझा जा सकता है । वेदों में ज्ञान–रश्मि सूत्रों के रूप में निबद्ध थी, और इसे तीक्ष्ण बुद्धि वाले द्विज ही समझ सकते थे, सामान्य जनों की बुद्धि से ये परे थे, फलतः समाज का बहुसंख्यक वर्ग वेदों में निहित ज्ञान से वंचित था । अतः लोक जीवन के लिए सरल, सामान्य साहित्य की आवश्यकता महसूस हुई, जो जन–जन तक आसानी से प्रसरित हो सके । इसी भावना से प्रेरित होकर पुराणों को अनूदित किया गया । पुराण उच्च और निम्न दोनों कुलों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए, और निरन्तर उनकी उपयोगिता बढ़ती गई ।

पुराण– साहित्य के कुछ आधुनिक समीक्षकों ने पुराणों की रचना का प्रमुख उद्देश्य समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को स्वीकार करना किया है ।[2] क्योंकि वैदिक काल से ही ब्राह्मणों का वर्चस्व होने के कारण मन्त्र पूजा जप–तप इत्यादि करने के लिए केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही पात्र थे, कालान्तर में क्षत्रिय वर्ग को भी इसकी इजाजत मिल गई, किन्तु समाज का निम्न वर्ग शूद्र इससे अछूता रहा । इस प्रकार प्रारम्भ से ही ब्राह्मण धर्म का बोलबाला रहा किन्तु जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ तो महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म में शूद्रों को भी मोक्ष का अधिकारी बताया। इस प्रकार उन्हें धर्म में स्थान मिला, फलतः ब्राह्मण अगर असंतुष्ट हो गया और बौद्ध धर्म का विरोध करने लगा, यद्यपि जैन धर्म इससे अछूता रहा।

अतः ब्राह्मण धर्म को बचाने के लिए पुराणों की रचना हुई । पुराणों की रचना के द्वारा वैदिक धर्म में जो जटिलता, क्लिष्टता आ गई थी, ब्राह्मण वर्ग के द्वारा जो बौद्ध धर्म का पतन

१– महाभारत – १.१.२६७, वायु पुराण – १.२०१
२– श्री वेंकटाचल्ल अय्यर – क्वा० ज०मि० सो० भाग–१३ नं० २, १९२३.

हो रहा था, उसे दूर करने का प्रयास किया गया और भक्तिमार्ग जो कि सर्वसुलभ है के द्वारा सभी वर्गों को एक दूसरे से जोड़ने का प्रयास किया गया ।

किन्तु भले ही कतिपय विद्वानों एवं के समीक्षकों ने ब्राह्मण वर्ग के वर्चस्व को बनाए रखना, पुराण रचना का मुख्य उद्देश्य स्वीकारा है, किन्तु डॉ० हरि नारायण दुबे अपनी पुस्तक पुराण समीक्षा में इस मत को निराधार सिद्ध करते हैं । उनका मानना है कि वैदिक युग से ही ब्राह्मणों का स्थान समाज में सर्वश्रेष्ठ रहा है, अत: उन्हें पुराणों की रचना कर अपनी सामाजिक और धार्मिक प्रतिष्ठा को प्रतिपादित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी । विद्या एवं धर्म ज्ञान से परम्परया सहज रूप से सम्बद्ध होने के कारण पुराण संरचना उनकी सहज वृत्ति मानी जा सकती है ।[१]

डॉ० हरिनारायण दुबे ने लिखा है कि जब विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों यथा– वैष्णव, शैव, शाक्त आदि का उदय हुआ, तब साम्प्रदायिक विचारों तथा सिद्धांतों के प्रचार के लिए विभिन्न पुराणों की रचना हुई । तीर्थ–यात्रा, ब्रत, दान, श्रद्धा आदि की महिमा का प्रतिपादन कर हिन्दू धर्म का सन्देश साधारण जनता तक पहुँचाने का श्रेय इन्हीं पुराणों को प्राप्त है । "यदि पुराणों की संरचना न हुई होती तो सम्भवत: सर्वसाधारण लोग वेदोक्त पौराणिक धर्म ज्ञान से वञ्चित ही रह जाते ।"[२]

पुराण युगीन भक्ति आन्दोलन अधिक प्रभावशाली तथा मौलिक था, यह जनता के कितने निकट पहुँचना चाहता था, इसका प्रमाण स्वंय देवी भागवत है जैसा कि हम देख चुके हैं। ''पुराणों की रचना का उद्देश्य यह था कि शूद्र तथा नारियाँ भी इसे पढ़ सकें । वर्णाश्रम धर्म की सुदृढ़ स्थापना एवं स्मृतियों का पूरा–पूरा पालन करते हुए भी, समाज के एक बहुत बड़े भाग को जिसे

१– डॉ० हरिनारायण दुबे – 'पुराण समीक्षा' प्रथम संस्करण १९८४ पृष्ठ – २६

२– डॉ० हरि नारायण दुबे – 'पुराण समीक्षा' प्रथम संस्करण १९८४ पृष्ठ – २६

अब्राह्मण धर्म बहुत अधिक संख्या में आत्मसात करते जा रहे थे, भागवतधर्म में समेट लेने का जो प्रयत्न दूसरी शती ई० तक पुराणों ने वृहत पैमाने पर किया था, वह एक देशीय या कुछ विशेष जन समुदाय तक सीमित भागवत सम्प्रदाय को व्यापक एवं उन्नतशील बनाने के लिए वह प्रथम सजग प्रयास था जो सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करता है पर इसके लिए उन्हें कम प्रयत्न नहीं करने पड़े थे । भगवान की कृपा द्वारा तारे गए भक्तों की सूची में अनेक शूद्रों का नाम जोड़ना पड़ा और उनके लिए ऐसी कथाएँ रचनी पड़ी, जिनमें सवर्णानुसार कर्म करने से ही भगवद् प्राप्ति का विवरण दिया गया । यह भी ठीक है कि इसके लिए उन्हें गीता का सहारा प्राप्त था, जिसमें भगवान कृष्ण ने यह कहा है कि अपने–अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाला सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है ।

पुराणों का महत्व –

अत्युक्ति कल्पना तथा साम्प्रदायिकता बहुल मानकर भले ही कुछ आधुनिक आलोचक पुराणों को महत्वहीन और उपेक्षणीय समझकर छोड़ दें, परन्तु इतना तो निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि परम्परा ऐतिहासिकता और भक्ति तत्व की दृष्टि से पुराण की तुलना में उपादेय भारतीय साहित्य का कोई दूसरा अंग नहीं है । प्राचीन भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अध्ययन के लिए पुराणों की अनिवार्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । पं० गोपीनाथ कविराज का विचार इस विषय में उल्लेखनीय है ।

''भारतीय आर्यों की व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन धारा को समझने के लिए पुराण साहित्य अत्यधिक् सहायक हैं । वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि वर्तमान हिन्दू संस्कृति की रूपरेखा एकमात्र पुराणों में ही प्रकाशमान है । वर्ण, विभाग, आश्रम विभाग तद्नुसार व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्म विभाग, उपासना ज्ञान तथा भक्ति तत्व का विचार, बन्धन, मोक्ष, धार्मिक सम्प्रदायों का वर्णन ऋषि मुनियों के पवित्र जीवन का विवरण पुराणों में विद्यमान है ।''[1]

१– पुराणतत्व मीमांसा (श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी) पर पं० गोपीनाथ कविराज की शुभाशंसा पृष्ठ–१

सदाचार, जीव विभाग, ब्रहमाण्डान्तर्गत भुवनकोश या लोकसंस्थान, ईश्वरतत्व, तीर्थ विज्ञान, भूगोल के सभी विषय पुराण में आलोचित हुए हैं । "प्राचीन विद्या कल्प, दर्शनशास्त्र एवं विभिन्न वेद संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं, परन्तु प्राचीनतम भाषा प्रतीकारात्मक एवं रूपकमयी शैली में निबद्ध वेद जन सामान्य के लिए प्राय: दुर्बोध हैं । दुरूह वेद तत्वों को सरल एवं सुबोध बनाकर जनसाधारण तक पहुँचाने का कार्य पुराण उपवृंहण क्रिया के द्वारा करता है । इसी अर्थ में कहीं–कहीं वेदार्थ से पुराणार्थ को अधिक (सहज) माना गया ।

"वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थ वरानने ।
वेदाप्रतिष्ठिता: सर्वे पुराणे नात्र संसय: ।।" [१]

बहुश्रुतता तथा बहुसता की दृष्टि से भी पुराण का महत्व सर्वमान्य है । पुराणों से अनभिज्ञ व्यक्ति चार वेदों, दर्शन एवं उपनिषदों को जानने पर भी विचक्षण नहीं हो सकता । [२]

"यो वेदों चतुरो वेदान् सांगोपनिषदों द्विजा : ।
पुराणं नैव जानासि न च स्याद् विचक्षण : ।। "[३]

पुराण का रचना काल –

पुराण साहित्य की प्राचीनता में किसी प्रकार का संदेह होने पर भी पुराणों का रचनाकाल अत्यन्त विवादास्पद है । पार्जिटर महोदय पुराणों का रचना काल ४०० ई० पूर्व से मानते हैं।[३] परन्तु सी०वी० वैद्य का मत है कि पुराणों की रचना ४०० ई० में हुई थी ।[४]

स्मिथ महोदय की मान्यतानुसार मुख्य–मुख्य पुराण गुप्तकाल में सम्पादित हुए।[५]

१– *नारदीय पुराण – २/२४/१७*
२– *ब्रह्माण्ड पुराण – १/१/७०*
३– *जी०आर०ए०एस० १९१४ पृष्ठ – ७४५*
४– *हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर खण्ड–१ पृष्ठ ६*
५– *द प्रिंसिपल पुरानाज सीम टु हैव वीन एडिटेड इन देयर प्रजेंट फार्म ड्यूरिंग द गुप्ता पीरिएड़ ह्वेन ए ग्रेट एक्सटेन्शन एण्ड राइवल ऑफ सुस्कृत बाइमानिकल लिटरेचर टुक प्लेस – "द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया फ्रॉम ६ बी०सी० टु द मोहम्मडन कांक्वेस्ट पृष्ठ–२०*

आचार्य बलदेव उपाध्याय "वायु तथा विष्णु को सभी पुराणों में प्राचीनतम मानने के पक्ष में हैं ।" (पुराण विमर्श पृष्ठ – ५३७)

पार्जीटर महोदय का मत है कि "पद्मपुराण, ब्रह्मपुराण और भविष्यपुराण का रचनाकाल ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों के बाद का नहीं हो सकता ।"

(जे०आर०ए० एस १९१२ पृष्ठ – २५५)

"वायु पुराण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण की रचना वी०ए० स्मिथ के मतानुसार ५००ई० के आस–पास हुई ।"

(द अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया फ्रॉम ६०० वी०सी० टु मोहम्मडन कांक्वेस्ट पृष्ठ–२०)

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पुराणों की ऐतिहासिक वृत्त के वर्णन के आधार पर कुछ विशिष्ट पुराणों का रचनाकाल निर्दिष्ट किया है, उनके अनुसार भविष्य पुराण का निर्माणकाल द्वितीय सदी का अन्त है । मत्स्य पुराण का रचनाकाल तृतीय शताब्दी का आरम्भ है । वायु तथा ब्रह्माण्ड की रचना गुप्त काल तक समाप्त हो चुकी थी । श्रीमद्भागवत गुप्तकाल की रचना है।[1]

आचार्य जी ने रचनाकाल की दृष्टि से पुराणों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है । प्राचीन श्रेणी के अन्तर्गत वायु, ब्रह्माण्ड मार्कण्डेय, मत्स्य और विष्णु को रखते हुए इनका समय प्रथम शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी तक माना है । मध्यकालीन के अन्तर्गत श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द तथा पदम् पुराण की गणना करते हुए इनका रचनाकाल ५०० से ९०० ई० मानते हैं । अर्वाचीन के अन्तर्गत ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म लिंग आदि को मानते हुए इनका रचना काल ९०० ई० से १०० ई० के मध्य माना है ।[2]

---

१. *पुराण–विमर्श (आचार्य बलदेव उपाध्याय) पृ० ५३७*
२. *पुराण–विमर्श (पृ० ५३७)*

डॉ० राजेन्द्र हाजरा के अनुसार – डॉ० बुल्के ने मार्कण्डेय ब्रह्माण्ड, विष्णु, वायु, मत्स्य, भागवत और कूर्म को प्राचीनतम महापुराण कहा है ।[१] तथा वाराह, अग्नि, लिंग, वामन, नारदीय, ब्रह्म, गरूड़, स्कंद, पद्म तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण को गौण महापुराण माना है ।[२] उन्होंने मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड और विष्णु पुराण को चौथी शताब्दी ई० की रचनाएँ स्वीकार किया है । वायु तथा मत्स्य को ५वीं शती ई० का माना है । भागवतपुराण को ६ठीं शताब्दी अथवा ७वीं शताब्दी ई० तथा कूर्म पुराण को सातवीं शताब्दी की रचना स्वीकार किया है, गौण महापुराणों का रचनाकाल ८वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी तक माना है ।[३]

स्वामी करपात्री जी महाराज ने डॉ० हाजरा, बुल्के तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों द्वारा मान्य पुराण रचनाकाल का खण्डन किया है । उन्होंने पुराणों को व्यासकृत ही स्वीकार किया है ।[४]

<u>पुराण संहिता का प्रतिपाद्य</u> –

व्यासपूर्व प्रचलित पुराण का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था, उस समय लौकिक शास्त्र तथा एक विद्या विशेष के रूप में ही पुराण की प्रसिद्धि थी । जनसामान्य समाज में प्रचलित होने के कारण लोकरूचि एवं परिवर्तन के साथ–साथ पुराण का रूप भी परिवर्तित होता रहा, जैसा कि पुराऽपि नवं पुराणम् से स्पष्ट होता है । तत्कालीन पुराण प्रतिपाद्य समाज में प्रचलित परम्परागत विविध लोकवृत्त ही थे । यह वेद प्राचीनतर कहा जाने वाला पुराण वेदोपंतृहक नहीं

---

१. *रामकथा – डा० बुल्के पृ० १६०*

२. *वही पृ० १६१*

३. *रामकथा–डा० बुल्के, पृष्ठ १६१*

४. *रामायण मीमांसा पृ० ३१४–२०*

था, क्योंकि वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों यज्ञों से प्राचीन पुराण का किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, यद्यपि वह वेद विरोधी भी नहीं था । व्यास पश्चात् जब पुराणों का वेद परम्परा में अनुप्रवेश होने लगा, तभी से वे वेदोपवृंहक हुए ।

प्राचीनकाल में वेदज्ञान रहित सूत जातीय लोग राजाओं के चरित एवं लोक रंजनोपयोगी आकर्षण विषयों का प्रवचन पुराण नाम से करते थे ।[१]

जिन उपकरणों को ग्रहण कर महाभूति व्यास ने पुराण संहिता का प्रणयन किया था, उनका उल्लेख विष्णु, वायु आदि पुराणों में हुआ है ।[२] ये उपकरण– आख्यान–उपाख्यान गाथा तथा कल्पशुद्धि है । ये चारों उपकरण मूलत: वैदिक हैं ।

पुराणों का अनुक्रम –

परम्परा से व्यास रचित १८ पुराण मान्य है ।[३] जिनका उल्लेख किन्चित क्रमान्तर के साथ प्राय: सभी पुराणों में उपलब्ध होता है । भागवत में यह क्रम इस प्रकार हैं –[४] ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णु, शिव, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरूड़, ब्रह्माण्ड ।

गजनी के प्रसिद्ध विद्वान अल्बरूनी ने अपने समय में उपलब्ध प्रमाणों का उल्लेख अपने भारत विषयक ग्रन्थ १०२०ई० के १२वें परिच्छेद में किया गया है[५] क्रम इस प्रकार है –

---

१. *नहि वेदेएवधिकार: कश्चितसूतश्य दृश्यते । वायु पुराण १/३३*

२. *विष्णु पुराण ३/६/१६*

३. *शिवपुराण ५/४४/११९, वायु पुरा० २/४२/२, ११, भविष्य १/१/५८ स्कंद ४/९५/३, मत्स्य ५३/११ भागवत १२/७/२३–२४*

४. *भागवत १२/१३/३–८*

५. *अल्बरूनी का भारत –– अनु० श्री रजनीकान्त शर्मा,भूमिका पृ० ६*

ब्रह्म, पद्म अर्थात विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरूड़ इत्यादि ।

पुराण के अष्टादश होने का तात्पर्य, क्रम रहस्य एवं औचित्य का विस्तृत विवेचन आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ, पुराण विमर्श में किया है ।[१]

कुछ पुराणों में पुराण वर्गीकरण भी किया गया है । पद्यम पुराण ने तामस, राजस एवं सात्विक भेद करते हुए मत्स्य, कूर्म, लिंग, शिव, स्कन्द एवं अग्नि को तामस, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय भविष्य, वामन और ब्रह्म को राजस तथा विष्णु, नारद भागवत, गरूड़, पद्यम एवं वाराह को सात्विक पुराण माना है ।[२]

मत्स्य पुराण के अनुसार विष्णु का वर्णन करने वाले पुराण सात्विक, ब्रह्म और अग्नि का वर्णन करने वाले पुराण राजस, शिव का वर्णन करने वाले तामस तथा सरस्वती एवं पितरों का माहात्म्य वर्णन करने वाले पुराण संकीर्ण हैं ।[३]

<u>प्रारम्भिक पुराणों में भक्ति</u> –

पुराणों या महापुराणों की संख्या १८ प्रसिद्ध है । इन अठ्ठारह पुराणों का निश्चित क्रम होता है –

१– ब्रह्म पुराण	२– पद्म पुराण
३– विष्णु पुराण	४– वायु पुराण
५– भागवत पुराण	६– नारदीय पुराण

---

१. *पुराण विमर्श (पृ० ८५–८६) आचार्य बलदेव उपाध्याय*

२. *पद्म पुराण उत्तरखण्ड २६३/८१–८४*

३. *मत्स्य पुराण ५३/६७–६८*

७— मार्कण्डेय पुराण	८— अग्नि पुराण
९— भविष्य पुराण	१०— ब्रह्मवैवर्त पुराण
११— लिंग पुराण	१२— वाराह पुराण
१३— स्कन्द पुराण	१४— वामन पुराण
१५— कूर्म पुराण	१६— मत्स्य पुराण
१७— गरूड़ पुराण	१८— ब्रह्माण्ड पुराण

कभी—कभी कुछ निश्चित पुराणों के विषय में तिथि निर्धारण करना कठिन हो जाता है, फिर भी हमें प्रारम्भिक पुराणों तथा बाद के पुराणों में बहुत भेद देखने को मिलता है । सुस्मिता पाण्डेय ने अपनी पुस्तक "Birth of Bhakti in Indian Religion and Art" में विष्णु, मत्स्य वायु और ब्रह्माण्ड को प्रारम्भिक पुराण माना है, जबकि स्कंद ब्रह्मवैवर्त, पद्म, गरूड़ इत्यादि को बाद के पुराणों में स्थान दिया जा सकता है, किन्तु भागवत पुराण के विषय में कुछ कहना विवाद का विषय है, क्योंकि भागवत पुराण को प्रारम्भिक पुराणों और परवर्ती पुराणों की कड़ी माना जाता है । हाल में भागवत पुराण को प्रारम्भिक पुराण की अपेक्षा परवर्ती पुराणों में स्थान दिया है । इस प्रकार प्रारम्भिक पुराण — कुषाण काल और गुप्त काल से सम्बन्ध रखते हैं।

पुराण वाङमय प्राचीन इतिहास को एक विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं, ये किसी देश विशेष के ही एकांगी स्वरूप का वर्णन नहीं करते है, वरन् ब्रह्माण्ड की सृष्टि से प्रलय तक की सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं का अंकन करते हैं । जनसाधारण के हृदय में भक्ति के तत्व को सरल और सुग्राह्य भाषा के द्वारा पहुँचा देने में पुराण के समान अन्य कोई ग्रन्थ (साहित्य) नहीं है । यद्यपि वेद भी हमारे धार्मिक साहित्य हैं किन्तु वे जनसाधारण की समझ से परे हैं । पुराणों में ब्रह्म का जो रूप वर्णित है, वह सर्वजनग्राह्य है । वेदों एवं उपनिषदों ने निराकार ब्रह्म के स्वरूप का चित्रण किया ।

<u>विष्णु पुराण</u> –

१८ पुराणों की श्रृंखला में विष्णु पुराण का स्थान सर्वोपरि है । श्रीमद्भागवत पुराण इसी का वृहद रूप है । यह वैष्णव दर्शन तथा वैष्णव भक्ति का मूल आधार है । भगवान विष्णु की महिमा का ज्ञान तथा भगवद्भक्ति का उद्घोष करना इसका उद्देश्य है । इसी कारण इसे विष्णु पुराण की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । इसे पुराण संहिता भी कहा गया है ।[1] पुराण संहिता ही समस्त पुराणों का बीज है ।

महापुराणों की गणना करते समय विष्णु पुराण का नाम तीसरे स्थान पर लियाजाता है।[2] किन्तु ऐतिहासिक घटना की दृष्टि से विष्णु पुराण को तृतीय स्थान पर होना चाहिए ।

विष्णु पुराण ६ खण्डों (अंशों) में विभाजित है । प्रथम अंश में २२ अध्याय तथा द्वितीय अंश में १६ अध्याय है । तीसरे, चौथे, पाँचवे तथा छठे अंश में १८, २४,३८ तथा ८ अध्याय हैं । समस्त अध्यायों की संख्या १२६ है । मत्स्य पुराण तथा नारद पुराण में इसकी श्लोक संख्या २३ हजार बताई जाती है ।[3]

विष्णु धर्मोत्तरपुराण जिसकी गणना एक उपपुराण के रूप में की जाती है, वह विष्णु पुराण का उत्तरार्ध है । विष्णु पुराण में पुराणों के पाँचो लक्षण– सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित तथा मन्वन्तर का विवेचन मिलता है । यह पुराण भक्ति, धर्म और उपासना का एक अद्भुत धर्मग्रन्थ है । इस पुराण का श्रवण तथा पाठ करने से श्री विष्णु के चरणारविन्दो में अखण्ड भक्ति प्राप्त होती हैं ।[4] श्रीमद्भागवत पुराण इसी पुराण का वृहद् रूप है । विष्णु पुराण के पाँचवे अंश में

---

१. *विष्णु पुराण १/१/२६–३०*

२. *नारद पुराण ९२/१–३, श्रीमद् भागवत पुराण १२/८/२३–२४ विष्णु पुराण ३/६/२१–२४*

३. *मत्स्य पुराण ५३/१६–१७ नारद पुराण ९४/१–२*

४. *कल्याण–पुराणाकथाङ्क संख्या १/ वर्ष ६३*

श्रीकृष्ण के चरित्र के विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है, इसी का और अधिक विस्तृत वर्णन भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध में किया गया है । विष्णु पुराण में श्रीराम के चरित्र का भी गुणगान विस्तार रूप में देखने को मिलता है । यह विष्णु पुराण अनन्त भक्ति राशि का भण्डार है । इसके विषय भक्ति तथा धर्मों के विषयों से भरे पड़े हैं ।

पुराणकार "ब्रह्म का चित्रण निराकार एवं साकार दोनों रूपों में करते हैं ।"[१] "पुराण ब्रह्म के साकार रूप का वर्णन प्रस्तुत कर उन्हें जनसाधारण के अत्यंत निकट लाने में समर्थ होता है। इससे जनसाधारण मानव हृदय में भी देवत्व एवं मानवत्व की भावना जागरूक हुई ।"[२]

इस प्रकार पुराण प्रधान रूपेण परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं ।

विषय सामग्री की दृष्टि से विवेचना करने पर विष्णु पुराण का रचनाकाल छठी शती प्रतीत होता है । इस पुराण के आदि रचयिता वशिष्ठ हैं, किन्तु आधुनिक रूप में इसके कर्ता पराशर हैं।

पुराण में इन्द्र के स्थान में विष्णु ही सुप्रतिष्ठित होते हैं तथा वैष्णव पुराणों में परमेश्वर के रूप में पूजित होते हैं । विष्णु पुराण, नारदीय, गरूड़, पद्म, ब्रह्मवैवर्त भागवत आदि पुराणों में विष्णु की महिमा विशेष रूप से व्यक्त हुई है । इन सब पुराणों में विष्णु ही परमतत्व के रूप में ग्रहण किए गए हैं, तथा रामकृष्ण आदि विष्णु के अवतार रूप में पूजित है । इस पुराण में भगवान का चित्रण केवल आराध्य देवता के ही रूप में नहीं है, वरन् सृष्टि के त्राताा (रक्षक) और पोषणकर्ता के रूप में किया गया है । इस पुराण में विष्णु को परम तेजस्वी, अजर, अचिन्य,

---

१. *विष्णु पुराण – १.२*

अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामद्धिजन्मभिः ।

वर्ज्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्।

२. *विष्णु पुराण एक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन–डा० श्रीमती सीमा बोस प्रथम संस्करण–१९९१*

व्यापक, नित्य कारणहीन एवं सम्पूर्ण विश्व में व्यापक बताया गया है ।[1] विष्णु सबके आत्मरूप मे एवं सकल भूतों में विद्यमान हैं, इसीलिए उन्हें वासुदेव कहा जाता है ।[2]

विष्णु पुराण के पाँचवे अंश में वैधी और रागानुका भक्ति का भी सुन्दरतम वर्णन है । वैधी भक्ति के द्वारा साधक का मन भगवान की ओर उन्मुख हो जाता है । इस प्रकार की भक्ति में वाह्यविधियों और आचारों का विधान है । वैधी भक्ति के तीन रूप हैं, जिसका वर्णन विष्णु पुराण में पाया जाता है । १— प्रणाम २— स्तुति ३— सर्वकर्मापण ४— उपासना ५— ध्यान ६— कथा श्रवण ये वैधी भक्ति के ६ अंग है ।

विष्णु के प्रति भक्ति का विस्तृत विवेचन विष्णु पुराण में देखने को मिलता है, जो व्यक्ति विष्णु का स्मरण करता है, उसकी समस्त पापराशि भष्म हो जाती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।[3] यद्यपि भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी भगवान की कृपा के बिना सम्भव नहीं है, तो भी व्यक्ति रागानुगा भक्ति द्वारा भगवान का सामीप्य प्राप्त कर लेता है। मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए भगवान की शरण को प्राप्त करना, उनकी भक्ति करना आवश्यक है।

उस सृष्टिकर्ता, सर्वशक्तिमान को निरन्तर भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है। भक्ति ही जनमानस को ईश्वर के चरण कमल की ओर ले जाती है। भक्ति के प्रेमाभ्यास से ही लोगों के हृदय पवित्र होते हैं, और उस पवित्र हृदय में परमात्मा की उत्पत्ति होती है। वे अजन्मा होकर भी हमारे हृदय में विराजमान हैं, किन्तु मोहवश हम उनको देख सकने में असमर्थ है।

---

१. *विष्णु पुराण — ६/५/६९*

२. *विष्णु पुराण — ६/५/८०*

३. *विष्णु पुराण — २/६/४०*

विष्णु पुराण में वैष्णव भक्ति का प्राबल्य है। विशेषकर प्रहलादकृत विष्णुभक्ति का विस्तार से वर्णन है।

गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है "साधुओं की रक्षा, मुक्ति, दुष्टों के संहार तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतीर्ण होता हूँ।"[1]

"अपने शरीर को त्यागने के पश्चात् जीव पुर्नजन्म ग्रहण नही करता, अपितु मुझमें ही मिल जाता है।"[2]

विष्णु पुराण में भक्ति, ज्ञान और कर्म– इन तीनों विषयों का विवेचन हुआ है, किन्तु भक्ति योग का महत्व विशेष रूप से प्रदर्शित किया गया है और भक्ति के उदाहरण बहुतायत दृष्टिगोचर होते हैं। जब भगवान प्रहलाद से कहते हैं–

" हे प्रहलाद। मै तेरी अनन्य भक्ति से अति प्रसन्न हूँ, तुझे जिस वर की इच्छा हो मुझसे माँग ले।" तब प्रहलाद कहते हैं–

"हे नाथ। सहस्त्रों योनियों में से मै जिस–जिस में जाऊँ, उसी–उसी में हे अच्युत्र आप में मेरी अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरूषों को विषयों में जैसी अविचल प्रीति होती है वैसे ही आपका स्मरण करते हुए, मेरे हृदय से वह भक्ति कभी दूर न हो।"[3]

इसके पश्चात् जब भगवान ने पुनः प्रहलाद से इच्छित वरदान माँगने के लिए कहा तब प्रहलाद ने कहा, "भगवान । मैं तो आपके इस वर से ही कृतकृत्य हो गया कि आपकी कृपा से आप में मेरी अविचल भक्ति रहेगी। हे प्रभो। सम्पूर्ण जगत के कारणरूप आप में जिसकी–जिसकी निश्चल भक्ति है, मुक्ति भी उसकी मुट्ठी में रहती है। फिर धर्म, अर्थ और काम से तो उसका

---

१. *भगवद्गीता – ४/८*

२. *उपरोक्त ४/९*

३. *विष्णु पुराण १–२० (१७–१९)*

प्रयोजन ही क्या रह जाता है।''[१]

विष्णु पुराण के अन्य स्थल पर भी भक्ति का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है भक्ति की चर्चा नृप शत्रुधनु के धार्मिक क्रियाकलापों में मिलती है। कहा गया है कि ''वे भक्ति मार्ग का अवलम्बन कर विष्णु का चिन्तन करते थे।''

आराधयामास विभुं———————भक्तित:''।[२]

विष्णु पुराण में ध्रुव सर्वोच्च स्थान पाने की इच्छा से सप्तषियों से कहते हैं। सप्तर्षि के आज्ञानुसार वे विष्णु की भक्ति से सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते हैं।

''देवताओं की स्तुति से द्रवित होकर विष्णु अवतार लेने का वचन देते हैं, और अन्य देवताओं को पृथ्वी पर अवतरित होकर दैत्यों को दलित करने के लिए उन्हें आदेश भी देते हैं।''[३]

विष्णु की महत्ता और श्रेष्ठता को बताते हुए पुलह कहते हैं कि विष्णु जगत् पालक और जगत्नियन्ता है। उनकी स्तुति और भक्ति से इन्द्र ने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था, अत: उनकी भक्ति मनुष्य को परमफल देने वाली है, उनकी भक्ति के प्रसाद से व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकता है।

विष्णु पुराण में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि ''भगवान विष्णु अपने द्वारा भी कीर्तित होने पर उन्हें कल प्रदान करते हैं फिर सम्यक् पूर्वक उनकी भक्ति करने वालों को दुर्लभ फल देना तो उनका नियम ही है।''[४] कहा गया है कि ''विष्णु की उपासना करने वाले मनुष्य को

---

१. *विष्णु पुराण १—२०/२६—२७*

२. *विष्णु पुराण ३/१८/५५*

३. *विष्णु पुराण ५,१,१२,१३,२१,३०,५१ सुराश्च सकलस्स्वांशैरेवतीर्य महीतले । कुर्वन्तु — युद्धमुन्मन्तै: पूर्वोत्पन्नैर्महासुरे: ।।*

४. *विष्णु पुराण ४/१५/१७*

चाहिए कि वह पहले सम्पूर्ण वाह्रय विषयों से चित्त को हटावे. और उसे जगत के एकमात्र आधार विष्णु में स्थिर करे। इस प्रकार तन्मय भाव से विष्णु का जप करना चाहिए।"[1]

विष्णु पुराण के अनुसार "विष्णु सर्वेश है, उनमें सभी जीवों की प्रतिष्ठा है वे सभी के आश्रय हैं, उनका कभी विनाश नहीं होता ।"[2]

इस प्रकार धर्म निरूपण की दृष्टि से इस पुराण का मत सर्वाधिक है। भक्ति का जो संक्षिप्त निर्देश विष्णु पुराण में पाया जाता है उसी का विस्तृत स्वरूप भागवत पुराण के आधार सर्वेश्वर नारायण है, इसमें विष्णु को परम तेजस्वी, अजर, अजिन्त्य, व्यापक, नित्य कारणहीन और सम्पूर्ण विश्व में व्यापक बताया गया है। यथा–

"तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मन:।

वाचको भगवच्छब्दस्तस्याधस्याक्षयात्मन:।"[3]

विष्णु पुराण में शिव महिमा का भी उल्लेख है। इस पुराण के एक स्थल पर विष्णु और शिव में तादाम्य स्थापित किया गया है कि "रूद्र के रूप में विष्णु त्रिलोकी का दहन करते हैं।"[4] एक अन्य स्थल पर "ब्रह्मा स्वयं और शंकर आदि सभी देवताओं को नारायणात्मक मानते हैं।"[5]

---

१. *विष्णु पुराण १/११/५२–५५*

२. *उपरोक्त १/९/५७*

३. *उपरोक्त ६/५/६९*

४. *उपरोक्त ६/३/३०*

५. *उपरोक्त ५/१/२९*

"विष्णु पुराण के श्रीकृष्ण और शिव के संवाद में भी शिव के महात्म्य का वर्णन मिलता है जहाँ शिव को शूलपाणि कहा गया हैं"।[१] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस पुराण की रचना तिथि पर विमर्श करते हुए कालिदास विरचित 'विक्रमोर्वशीयम्'' नाटक की कथा–वस्तु का आधार इस पुराण को स्वीकार किया है। अतः यदि कालिदास का समय गुप्त काल मान लिया जाय तो मत्स्य पुराण का रचनाकाल गुप्त युगीन स्वीकार करना चाहिए।

संवाद में भी शिव के महात्म्य का वर्णन मिलता है जहाँ शिव को शूलपाणि कहा गया है।''[१]

इस प्रकार पौराणिक देव समुदाय में शिव को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था और उन्हें विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है।

मत्स्य पुराण –

मत्स्य पुराण अट्ठारह पुराणों में एक है। भगवान विष्णु के मत्स्य अवतार से सम्बद्ध होने के कारण यह मत्स्य पुराण कहलाता है। इस पुराण में २९१ अध्याय है, जिनकी श्लोक संख्या चौदह हजार है ।

धर्म के नष्ट होने पर भगवान विष्णु ने धर्म की स्थापना और असुर के विनाश के लिए कृष्ण का अवतार लिया था ।"[२] इस पुराण में भी भक्ति के पुट सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं । अध्याय २४५ में प्रह्लाद ने "बलि के प्रति भगवान कृष्ण की भक्ति का माहात्म्य बताते हुए, उन्हें नारायण सर्वजगद्‌गुरू, जनार्दन, अच्युत आदि नामों से अभिहित किया है ।"[३] "श्री कृष्ण सर्वेश्वरेश्वर हैं।"[४]

---

१. *विष्णु पुराण ५/३३–४५*
२. *मत्स्य पुराण ४७–१२*
३. *मत्स्य पुराण २४४/१५–१९*
४. *उपरोक्त २४६/१३*

विष्णु भक्ति से सम्बन्धित उद्धरण मत्स्य पुराण में आया है । इसमें कहा गया है कि "केशव को संतुष्ट करने का एकमात्र साधन भक्ति ही है ।"[१] वे सनातन हैं, सृष्टिकर्ता हैं तथा वर देने वाले हैं । श्री हरि का माहात्म्य बताते हुए मत्स्य पुराण में कहा गया है कि "विष्णु का दर्शन करने के लिए इन्द्र आदि देवता क्षीरसागर के तट पर गए थे ।"[२] इस पुराण में विष्णु के अवतारों का भी वर्णन हैं । मत्स्य पुराण में कहा गया है कि "विष्णु प्रत्येक युग में मायावश अवतार लेते हैं ।"[३]

मत्स्य पुराण के एक स्थान पर विष्णु के अवतार का कारण माया को बताया गया है। इस पुराण में विष्णु के साथ–साथ लक्ष्मी की उपासना पर भी बल दिया गया है । "विष्णु की पूजा से सम्बन्धित विभिन्न व्रतों के अवसर पर विष्णु के साथ–साथ लक्ष्मी की मूर्ति की स्थापना का आदेश दिया गया है ।"[४]

मत्स्य पुराण में शिव भक्ति का भी वर्णन है तथा उनकी उपासना पर बल दिया गया है। इस पुराण में "विष पीने वाले शिव को महादेव के नाम से पुकारा गया है ।"[५] एक अन्य स्थान पर शिव की स्तुति करते हुए शुक्र उन्हें देवादिदेव की संज्ञा देते हैं ।[६] वायु और ब्रह्माण्ड

---

१. *भक्त्या तुष्यति केशवः। मत्स्य पुराण–१००/३६*

२. *एवमुक्त्वा सुरान्सर्वान ब्रह्मा लोकपितामहः क्षीरोदस्योत्तरं तीरं तैरेव सहितो ययो ।*
(मत्स्य पुराण १/९/३८)

३. *विष्णुर्युगे युगे जातो नानाजातिमर्हातनुः मन्यसे मायया जाहं विष्णु चापि युगे युगे । मत्स्य पुराण १५४/१८०–८१*

४. *मत्स्य पुराण ८१/१ ५.१५ ५४/२४–२७*

५. *ततो देवो महादेवो विलोक्य विषमं विषम् – मत्स्य पुराण २५०–५५*

६. *संस्तुताय सुतीर्थाय देवदेवाय – मत्स्य पुराण ४७/१२९*

पुराणों में भी शिव का रूप देखने को मिलता है। इस प्रकार मत्स्य पुराण सभी देवताओं की भक्ति तथा उपासना का पूर्ण समर्थन करता है।

समय या काल प्रभु का दूसरा स्वरूप है, सम्पूर्ण प्राकृतिक घटनाएँ उन्हीं के द्वारा भय से प्रेरित होती है, और इनके फलस्वरूप अपने कार्यों को सम्पादित करती हैं । अतः वह ब्रह्माण्ड का सबसे बड़ा नियन्त्रक है । प्रभु का वर्णन शाश्वत, मुक्त, विशुद्ध रूप से सात्विक, सर्वज्ञ, परमात्मा दोष रहित प्रथम पुरूष के रूप में किया गया है । वह ६ गुणों से आच्छादित है, जिन्हें हम ऐश्वर्य भी कहते हैं, तथा तीन गुणों के स्वामी है व सम्पूर्ण गुणों, माधुर्य और ऐश्वर्य की खान है, उनका आकार विशुद्ध स्नेहाशिक्त है । वे विशुद्ध अनुभवों और आत्मा के मूल हैं । ऐसी दैवीय सत्ता के प्रति आस्था रखना स्वाभाविक है । इसके अतिरिक्त उनके साकार रूप को चिन्तन का विषय बनाया जाता है । वह नैसर्गिक रूप से सौम्य है । शारीरिक सौष्ठव के स्वामी है । उनके प्रति भक्ति तथा श्रद्धा भाव रखना व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिए ।

<u>वायु पुराण</u> –

प्राचीनता और प्रामाणिकता की दृष्टि से वायुपुराण अत्यन्त महत्वपूर्ण है । वायु पुराण में ११२ अध्याय है, तथा श्लोकों की संख्या कुल १०,९९१ है । इसका रचनाकाल ७वीं शती के आस–पास का माना जाता है इसे प्रारम्भिक पुराणों की श्रेणी में रखते हैं । इस पुराण में चार पाद है ।

वायु पुराण का सर्वाधिक महत्व है कि यह पॉचों लक्षणों से पूर्ण पुराण है । इस पुराण पर पाशुपत मत का प्रभाव है । इस पुराण के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विश्व का ही एक स्वरूप है। वायु पुराण शिव के अन्दर ज्ञान परित्याग ऐश्वर्य सादगी सत्य क्षमाशीलता और ब्रह्माण्ड के सृजन की क्षमता, इसके साथ–साथ आत्मज्ञान जैसे गुणों की उपस्थिति का आभास कराता है । इसीलिए उन्हें महादेव की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । अपने ऐश्वर्य के कारण उन्होंने देवताओं को पराभूत किया है, शक्ति के द्वारा असुरों को पराजित किया है । ज्ञान के द्वारा ऋषियों को और

योग के द्वारा मानवों को पराभूत किया है । महाकाव्य काल के दौरान उनका आकार और स्वरूप एक ऐसी दैवीय शक्ति के रूप में उभरा जो सादगी और सरलता से परिपूर्ण था । इसके साथ–साथ वे आशीर्वाद दाता के रूप में सामने आए, तथा भक्ति से प्रभावित दैवीय शक्ति के रूप में उभरे । उनका आध्यात्मिक स्वरूप उतना ही पुराना है, जितना कि उपनिषदों का काल। पुराणों में ये सारे अभिलाक्षणिक गुण विकसित पल्लवित और पुष्पित हुए और साथ–साथ काफी हद तक इसमें कुछ नवीन गुणों का समावेश हुआ । रूद्र जो कि मूलत: रूष्ट दैवीय सत्ता है, क्रमश: एक उदारवादी एवं परोपकारी सत्ता के रूप में शताब्दियों के बाद उभरे ।

उनके लिङ्ग के स्वरूप का वर्णन बहुधा पुराणों में किया गया है । उदाहरणत: – वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में । लिंङ्ग पूजा पुराणों की एक प्रचलित गुण और परम्परा रही है । पुराणों में उनके गुणों का वर्णन किया गया है । कभी–कभी उन्हें सूर्य के रूप में दिखाया गया है अवतारवाद भी पुराणों की एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है ।

वायु पुराण के अध्याय ९६ और ९७ में श्रीकृष्ण के जन्म और महिमा का वर्णन है इस पुराण में "श्रीकृष्ण को अक्षर ब्रह्म से परे और राधा के साथ गोलोक–लीला–विलासी कहा गया है । वे मोर–मुकुट, पीताम्बर धारण करते हैं, यमुना पुलिन पर गायों को रोकने के लिए इधर–उधर दौड़ते हैं और राधा–विलास–रसिक परम पुरूष हैं।"[1]

वायु पुराण में अक्षर ब्रह्म से भी परे साक्षात ब्रह्म या भगवान की स्थिति का वर्णन किया गया है । यह वही ब्रह्म है जो किसी नाम द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता, इसी परम तत्व को सात्वत वैष्णवों ने श्रीकृष्ण भगवान कह कर पुकारा है ।

वायु पुराण में एक स्थल पर कहा गया है कि महेश्वर परम देवता है । विष्णु में भी परम

---

१. वायु पुराण – द्वितीय खण्ड (अध्याय–४२ श्लोक ४२–५५)

देवत्व की प्रतिष्ठा है, पर उनका स्थान महेश्वर के उपरान्त आता है ।[१] एक स्थान पर विष्णु शिव से वरदान माँगते हैं । वरदान देने के उपरान्त शिव विष्णु के प्रति अपनी प्रीति प्रदर्शित करते हैं। इस वर्णन में "विष्णु और शिव दोनों ही देवताओं में समानता दिखाई गई है ।"[२]

कुछ ऐसे स्थल भी है, जहाँ पर शिव की अपेक्षा विष्णु को अधिक महान और शक्तिशाली बताया गया है । विष्णु पुराण में एक स्थान पर रूद्र को विष्णु का ही रूप मानते हुए कहा गया है कि इस रूप में वे जगत का संहार करते हैं ।[३]

"वायु पुराण में शिव विष्णु का गुणगान करते हुए समस्त विश्व को रूद्र तथा नारायण अर्थात् विष्णु से युक्त बताते हैं ।"[४] वायु पुराण में ही कहीं–कहीं विष्णु को नारायण के नाम से सम्बोधित किया गया है । कहा गया है कि नारायण ही एकमात्र साधनीय है ।[५]

वायु पुराण में वर्णनं मिलता है कि भगवान विष्णु ने वासुदेव कृष्ण के रूप में देवकी के गर्भ से अवतार लिया था ।[६] ''विष्णु के अवतार का उद्देश्य धर्म की व्यवस्था और असुरों का विनाश है ।[७] यही उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में भी देखने को मिलता है । वायु पुराण में कहा

---

१. *ईश्वरो हि परो देवो विष्णुस्तु महतः परः । वायु पुराण ५–२०*

२. *वायुपुराण २५/१५–२६*

३. *तत्यन्ते च यद्रूपं तस्मै रूद्रात्मने नमः।। ——— (विष्णु पुराण –३–१७–२६)*

४. *विश्वरूपमिदं सर्व रूद्रनारायणात्मकम् (वायु पुराण २५–२१)*

५. *साध्यो नारायणश्चैव विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः (वायु पुराण २३–१५)*

६. *तदा षष्ठेन चांशेन कृष्णः पुरुषसत्तमः ।*

वसुदेवाद्यदुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यति । (वायु पु० ३१/२०६)

७. *कर्तुधर्मव्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम ——वायु पु० ९६/२३२*

गया है कि भक्तों का उपकार करने वाले विष्णु अपनी इच्छावश मनुष्य का रूप धारण करते हैं, इनका रूप विस्तार अप्रमेय हैं ।[१]

वायु पुराण में शिव को सभी देवों से महान माना गया है, उन्हें महादेव के नाम से अभिहित किया गया है ।[२] इस पुराण के अनुसार समस्त विश्व शिव का रूप हैं ।[३] ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तपस्या, सत्य, क्षमा, सृष्टीकरण की योग्यता ये सभी गुण शिव में विद्यमान है । इसीलिए उन्हें महादेव कहा जाता है । उन्होंने ऐश्वर्य से देवों को, बल से असुरों को, ज्ञान से ऋषियों को, तथा योग के द्वारा प्राणियों को पराजित किया है । वायु पुराण में देवता ऋषि, राक्षस आदि शिव के उपासक थे । डॉ० सिद्धेश्वरी नारायण राय ने अपनी पुस्तक "पौराणिक धर्म और समाज" में लिखा है कि आदित्य, वसु अश्विनी कुमार, सनत्कुमार, अंगिरा आदि ऋषि तथा देवर्षि सुखासीन शिव की उपासना करते हैं । राक्षस तथा पिशाच विभिन्न रूप धारण करके उनकी सेवा करते हैं।"[४] अन्यत्र वायु पुराण में शिव को विष्णु, ब्रह्मा इत्यादि की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है । कहा गया है कि ब्रह्मा कृतयुग में पूजित होते हैं, त्रेतायुग में यज्ञ विधान की महत्ता रहती है, द्वापर में विष्णु की पूजा होती है और शिव चारों युगों में पूजे जाते हैं ।"[५]

---

१. *अप्रमेयो नियोज्यश्च यत्र कामचरो–प्रविष्टो मानुषीं योनिम् ।। (वायु पु० ९८–९५–९९)*

२. *देवेषु महान् देवो महादेवस्ततः स्मृतः (वायु पुराण ५–४१)*

३. *व्यक्ताऽव्यक्तो महादेवस्तस्य सर्वमिदं जगत् (वायु पुराण ७, ७२)*

४. *वायु पुराण ८५–९०*

५. *ब्रह्मा कृतयुगे पूज्यरस्त्रेतायां यज्ञ उच्यते ।*

द्वापरे पूज्यते विष्णुरहम्पूज्यश्चतुर्ष्वपि ।। (वायु पुराण ३२–२१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि वायु पुराण में भक्ति के तत्व यत्र–तत्र सर्वत्र दृष्टिगोचर होते है और विष्णु के सभी रूपों और अवतारों की उपासना की जाने लगी थी ।

<u>ब्रह्माण्ड पुराण</u> –

ब्रह्माण्ड पुराण की गणना प्रारम्भिक पुराणों में की जाती है । काणे ने इसकी रचना तिथि ईसा की चौथी एवं छठी शताब्दियों के मध्य स्वीकार किया है । यह मूल में प्राचीन वायु पुराण का पाठान्तर मात्र है । इसमें वायु पुराण के समान ही १२००० श्लोक और चार पाद हैं । मत्स्य पुराण के अनुसार इसमें १२,०००, २०० श्लोक हैं और श्रीमद्‌भागवत, नारद पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार १२००० श्लोक हैं । यह पुराण तीन भागों में विभाजित हैं :–

१– पूर्व भाग

२– मध्य भाग

३– उत्तर भाग

ब्रह्माण्ड पुराण में सभी कथाओं का कहीं दृष्टान्त रूप में तो कहीं उदाहरण रूप में समावेश है । अत: भगवद्‌महिमा का वर्णन करने से भगवत्कृपा द्वारा भगवत्प्राप्ति अवश्य होती है । भगवान परमदयालु हैं, जिन्होंने जीवो के कल्याणार्थ श्रवण–कीर्तन, स्मरण करने योग्य बहुत सी अद्‌भुत लीलाएँ की है, जिनके सेवन करने से सांसारिक दु:ख, शोक तथा अज्ञान का नाश होता है, क्योंकि पुराणों में सर्वत्र श्री हरि की महिमा का वर्णन मिलता है । कहीं अंशावतार, कहीं कलावतार कहीं पूर्णावतार का वर्णन है । ये सभी अवतार श्री हरि ने दुष्टों के नाश के लिए लिया था । क्योंकि जगत का कल्याण ही उनका परम उद्‌देश्य है, वे जगत का पालन तथा निर्वाह इत्यादि करते हैं ।

ब्रह्माण्ड पुराण के ललितोपाख्यान में भगवान श्रीराम के आर्विभाव और अवतार धारण करने की कथाएँ मिलती है । इसमें भगवती त्रिपुर सुन्दरी का विशिष्ट माहात्म्य प्रतिपादित है। दशरथ जी को भगवती त्रिपुरा की उपासना द्वारा पुत्र प्राप्त करने की कथा है ।

"हे मनोवाञ्छित फल प्रदान करने वाली करूणामूर्ति, राजाओं के वैभव के दर्प को दलन करने वाली, इन्द्र आदि देवों से सदा पूजित चरणों वाली सिंह पर विराजमान ललिताम्बादेवि। आप मुझ शरणागत पर कृपा करें और मेरा मनोरथ पूर्ण करके मुझे कृतार्थ करें ।[१]

राजा दशरथ की स्तुति और भक्ति से द्रवित होकर श्री ललिताम्बाजी ने प्रकट होकर उन्हें चार पुत्रों के पिता बनने का वर देकर कृतकृत्य कर दिया ।

''सुप्रसन्ना च कामत्क्षी सान्तरिक्षगिरावदत् ।

भविष्यन्ति मदंशास्ते चत्वारस्तनया नृप ।।[२]

देवी की कृपा से राजा दशरथ की पत्नियों ने तीनों लोकों को हर्षित करने वाले श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत तथा श्री शत्रुघ्न नामक चार परमतेजस्वी पुत्रों को जन्म दिया । इन्हीं पुत्रों ने समयानुसार पापियों एवं राक्षसों का विनाश कर पृथ्वी का भार उतार दिया, धर्म राज्य की स्थापना की और भक्तों, सन्तों, महात्माओं तथा चराचर जगत को आनन्दित किया ।[३]

यही कारण है कि पुराण भगवद् भक्ति पर जोर देते हैं । ब्रहमाण्ड पुराण में विष्णु की महत्ता पर जोर दिया गया है । विष्णु वायु, मत्स्य और ब्रहमाण्ड पुराणों में कहा गया है कि जब लोक पितामह विभिन्न देवों का राज्य वितरण करने लगे, उस समय उन्होंने आदित्यों का स्वामी विष्णु को दिया ।[४]

---

१. *ब्रह्माण्ड पुराण – ललितोपाख्यान ४०/१२९*

२. *उपरोक्त अ० ४०/१३०*

३. *उपरोक्त अ० ४०/८८/१३७*

४. *आदित्यानां पुनर्विष्णु – १ ब्रह्माण्ड पुराण ३/८/५*

ब्रह्माण्ड पुराण में विष्णु को आदिदेव मानते हुए उनकी महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अविचल भक्ति के द्वारा ध्रुव ने सप्तर्षि मण्डल के ऊपर का पद प्राप्त किया था और उन्हीं की भक्ति के प्रसाद से वे आज अचल हैं ।[१]

विष्णु की भक्ति सर्वोपरि है । समुद्र मंथन की कथा के प्रसंग में विष्णु को ब्रह्माण्ड पुराण में आदिनारायण कहा गया है ।[२] ब्रह्माण्ड पुराण में विष्णु को कौस्तुभ से युक्त बताया गया है।[३]

विष्णु के अवतार का वर्णन भी ब्रह्माण्ड पुराण में देखने को मिलता है । इस पुराण के अनुसार विष्णु के अवतार का उद्देश्य धर्म की व्यवस्था, असुरों का विनाश है ।"[४] भगवान की भक्ति से ही व्यक्ति सांसारिक झंझावातों से छुटकारा पा सकता है । भगवान विष्णु अपने भक्तों पर सदैव अपनी कृपादृष्टि रखते हैं और प्रत्येक युग में मानव जाति के उद्धार के लिए अवतार लेते हैं, उनकी लीला अपरम्पार है । वे विश्वनियन्ता है । भक्तों का उपकार करने वाले विष्णु अपनी इच्छावश मनुष्य का रूप धारण करते हैं, उनका रूप विस्तार अप्रमेय हैं ।[५]

अन्यत्र समुद्र मंथन के प्रसंग में ब्रह्माण्ड पुराण में बताया गया है कि इस अवतार पर समुद्र से बाहर निकलने पर लक्ष्मी ने विष्णु के वक्षस्थल का समाश्रय लिया ।[६] अन्य अवतारों में भी वे उनके साथ रहती हैं ।

---

१. *ऊर्ध्वोत्तरमृषिभ्यस्तु ध्रुवो यत्रस्ति वै स्मृतं ।*
एतद्विष्णुपदं दिव्यं व्योग्नि भास्वरं ।
तत्र गत्वा न शोचन्ति तदिवष्णो परमं पदं ।
धर्मध्रुवाद्यास्तिष्ठन्ति यत्र ते लोकसाधकाः ॥
(ब्रह्माण्ड पु० २/२१/१७५/७७

२. *आदिनारायणः श्रीमान्मोहिनीरूपमादधे। (ब्रह्माण्ड पु० ४/१०/३४)*

३. कौस्तुभाख्यं ततो रत्नमाददे तज्जनार्दन । *(ब्रह्माण्ड पु० ४/१०/७३)*

४. *कर्तुधर्मव्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम् (ब्रह्माण्ड पु० ३/७१/२४१)*

५. *अप्रमेयो नियोज्यश्च यत्रकामचरो –प्रविष्टो मानुषीं योनिम्॥ वायु पुराण ९८/९५–९९*

६. *पश्यति स्म च सा देवी विष्णुवक्षस्थलालया । (ब्रह्माण्ड पु० ४/१०/८२)*

ब्रह्माण्ड पुराण में शिव की महत्ता पर भी जोर दिया गया है । सम्पूर्ण संसार शिव का ही एक रूप है । इस प्रकार शिव को कुछ स्थलों पर विष्णु से श्रेष्ठ बताया गया है तथा कुछ स्थलों पर शिव और विष्णु में समानता भी दिखाई गयी है । ब्रह्माण्ड पुराण में भूत पिशाचों के अधिपति शिव को शूलपाणि कहा गया है ।[१] "एक अन्य स्थान पर उन्हें नीलकण्ठ भी कहा गया है ।"[२] "ब्रह्माण्ड पुराण में रूद्रों के अधिपति को शिव को वृषभध्वज कहा गया है ।"[३] शिव से उत्पन्न रूद्र को बहुरूप की संज्ञा दी गई है ।"[४] "इस पुराण में रूद्रका द्वापरयुगीन रूप अग्नि बताया गया है ।"[५]

लिंग पूजा का वर्णन भी ब्रह्माण्ड पुराण में आभास मात्र के रूप में देखने को मिलता है।

इस प्रकार पौराणिक देव समुदाय में विष्णु के साथ–साथ शिव को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था ।

---

१. *सर्वभूतपिशाचानां .... शूलपाणिनाम (ब्रह्माण्ड पु० ३/७/४११)*

२. *ब्रह्माण्ड पुराण २/२५/१०*

३. *ब्रह्माण्ड पुराण ३/८/६*

४. *महारूपान् .... विरूपांश्च (ब्रह्माण्ड पु० २/९/७१)*

५. *द्वापरे चैव कालाग्निः .... रूद्रस्य (ब्रह्माण्ड पु० २/२७/५१–५२)*

<u>त्रिदेव कल्पना–त्रिदेवों का सम्बंध : स्पर्धा और समन्वय</u> :

पुराणों में त्रिदेवों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। इस समय अनेक वैदिक देवता अपदस्थ हो गये थे, तथा कुछ अन्य देवता, जो पौराणिक काल की ही देन थे, उनका महत्व बढ़ता जा रहा था। देवताओं की संख्या में भी क्रमशः वृद्धि हो रही थी। सभी अपने–अपने देवता को सर्वोच्च एवं एकमात्र परम देवता मानते थे। उनके अनुसार अन्य देवता उस ही परमसत्ता की गौण अभिव्यक्ति थे। इन्हीं परिस्थितियों में इन सभी देवताओं में समन्वय तथा ऐक्य स्थापित करने के लिए देवताओं की त्रयी – त्रिमूर्ति अथवा त्रिदेव की धारणा का विकास हुआ। इस देवत्रयी के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को प्रमुख स्थान दिया गया जिसमें ब्रह्मा सृष्टिकार, विष्णु संरक्षक एवं शिव संहारक थे।[1] यह तीनों एक ही शक्ति नारायण के स्वरूप थे तथा इन देवताओं की ही त्रिदेव अथवा त्रिमूर्ति के रूप में प्रख्याति हुई।

यह देवता केवल पौराणिक देवता ही नहीं थे, वेदों में भी उनके मूल रूप दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्मा का मूल रूप वैदिक प्रजापति में तथा शिव का मूल रूप वैदिक रूद्र में दिखाई पड़ता है। विष्णु वैदिक विष्णु ही है जिनका वेदों में स्पष्ट रूप से उल्लेख है। यह त्रिदेवों का एकत्व वैदिक एकेश्वरवाद का प्रतीक प्रतीत होता है क्योंकि जिस प्रकार वैदिक युग में समस्त देवता एक ही भगवान की विचित्र शक्तियों के सूचक थे, उसी प्रकार अब वे भगवान की तीन मुख्य उत्पादक, संरक्षक तथा संहारक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश के विविध रूप थे।

१– सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्किाम्।

स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ।।

—— वि०पु० १।२।६६

पुराणों में विष्णु और शिव के विशेष महत्व प्राप्त होने के फलस्वरूप उस समय वैष्णव और शैव धर्मों का भी उदय हो रहा था, किन्तु त्रिमूर्ति की कल्पना किये जाने पर वैष्णवों और शैवों ने यह स्वीकार कर लिया था, कि जिन देवताओं के वे उपासक हैं, वे एक ही ईश्वरीय सत्ता के विविध रूप हैं। पुराणों में त्रिदेवों के एकत्व के विषय में अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है कि यह तीनों एक ही ब्रह्म की अशेष मूर्ति है।[1] इनमें कुछ भी भेद नहीं है। जो ब्रह्मा है, वही विष्णु के नाम से स्मरण किया जाता है, तथा वही महेश्वर है।[2] पद्मपुराण में इस विषय का प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है। भगवान स्वंय दिव्या देवी से कहते हैं कि हे देवि! इन तीनों देवताओं ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कोई अन्तर नहीं है। जिस व्यक्ति ने ब्रह्मा और शिव की पूजा की, उसने मानो मेरी भी पूजा कर ली। इसमें कदापि सन्देह नहीं करना चाहिए।[3] वास्तव में एक ही ब्रह्म के यह तीन विभिन्न स्वरूप हैं। इन तीनों में कोई भेद नहीं है। केवल इनके गुणों के भेद से तथा विभिन्न कार्यों के अनुष्ठान के कारण ही इनमें अन्तर दिखाई पड़ता है।[4] जो व्यक्ति शिव का भक्त होने के साथ–साथ विष्णु का भी पूजक है, उससे ब्रह्म, विष्णु और शिव तीनों प्रसन्न रहते हैं। अतः इस त्रिमूर्ति में पार्थक्य नहीं समझना चाहिए। यथार्थ में तीनों एक तत्व रूप ही है। इनमें कार्यभेद के कारण ही मूर्तिभेद है। केवल मूढ़ व्यक्ति ही इसमें भेद करने

१— प०पु० — १/२/११७

२— यो ब्रह्मा स स्मृतो विष्णुः सोऽनन्तात्मा महेश्वर :।

—— प०पु० १/७/२९

३— त्रयाणामपि देवनामन्तरं नास्ति शोभने ।

ब्रह्मा समर्चितो येन शंकरो वा वरानने। ।

तेनाहमर्चितो नित्यं मात्र कार्या विचारिणा।।——प०पु० २।८८।३९

४— एक मूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिता।।—— प०पु० —२।७१।२०—२२

करने की चेष्टा करते हैं। एक स्थान पर इन तीनों में भेद करने वाले मनुष्य को हजारों कल्पों तक कुम्भीपाक नरक में दु:ख भोगने वाला बताया गया है।[1] तीनों ही संसार के कारणमात्र हैं तथा तीनों देवता एक ही मूर्ति के त्रिगुणस्वरूप है।[2] नारद पुराण में भी इन देवों के परस्पर अभेद का वर्णन मिलता है।[3] श्री मद्‌भागवतपुराण में कहा गया है कि हम ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनों स्वरूपत: एक ही हैं। हम ही सम्पूर्ण जीवरूप हैं, अत: जो हममें कुछ भी भेद नहीं देखता वहीं शान्ति प्राप्त करता है।[4] इन तीनों में एक ही की उपासना से तीनों की उपासना हो जाती है। ईश्वर के हृदय में अक्षरत्रय के रूप में ये तीनों एक साथ निवास करते हैं। ब्रह्मा एक स्थल पर विष्णु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप ही अपनी मूल प्रकृति को स्वीकार कर विश्ववृक्ष के रूप में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के लिए मेरे अपने और महादेव जी के रूप में तीन प्रधान शाखाओं में विभक्त हुए हैं और फिर प्रजापति एवं मनु आदि शाखा प्रशाखाओं के रूप में फैलकर बहुत विस्तृत हो गये।[5] इस प्रकार पुराणों में देवत्रयी की कल्पना किये जाने पर

१— ये भेदं विदथात्यद्धा आवयोरेकरूपयो:।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नरा: कल्पसहस्रकम्।।— प०पु० ५।४६।२१

२— एकामूर्तिस्त्रयोदेवा: ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा:।
रज: सत्वतमो संयुता: कार्यकारका:।।— देवीमा०पु० १।८।४

३— हरिशङ्करयोर्मध्ये ब्रह्मणश्याऽपियो नर:।
भेदकुन्नरकं मुङ्क्तै यावदाचन्द्रतरकम्।।
हरं हरिं विघातारं य: पश्येदेकपिणम्।
स याति परमानन्दं शास्त्राणामेष निर्णय:।।
ना०पु० — ६/४५—४६

४— त्रयाणामेकमावानां यो न पश्यति वे मिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमथिगच्छति ।।
श्री मद्० पु० ४/७/५४

५— श्री मद्०पु० — ३/९/१६

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को अभिन्न बताया गया है। किन्तु इस प्रकार की अभिन्नता अथवा ऐक्य स्थापित किये जाने पर भी उनमें परस्पर स्पर्धा भी दिखाई पड़ती है। सभी अपने उपास्य देवके द्वारा ही इन त्रिदेवों की उत्पत्ति मानते हैं। शैव पुराणों में शिव को परम देवता माना गया है तथा शिव से ही इन तीनों देवताओं की उत्पत्ति कही गई है एवं वैष्णवपुराणों में विष्णु को परमदेवता स्वीकार कर उन्हीं से इन तीनों एवं अन्य सभी देवताओं की उत्पत्ति का कथन हुआ है। पुराणों में लिंड्गोद्भव आख्यान ब्रह्मा, विष्णु और शिव के एकत्व का कथन करते हुए शिव को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। इस आख्यान में एक बार ब्रह्मा और विष्णु में अपनी सर्वोच्चता को लेकर विवाद किये जाने पर एक ज्योतिपुञ्ज भासमान हुआ। इसका आदि और अन्त खोजने के लिए विष्णु ने अधोगमन और ब्रह्मा ने ऊर्ध्वगमन किया, किन्तु दोनों ही उसका अन्त न खोज सके तथा श्रान्त होकर वापस लौट आये। इस प्रकार माया से मोहित होने पर ब्रह्मा एवं विष्णु ने शिव की स्तुति की। तत्पश्चात् स्तुति से प्रसन्न होकर शंकर ने उसे अपनी माया बताया एवं कहा कि माया से उत्पन्न भय को त्याग दो, क्योंकि तुम दोनों मेरे ही अंगों से उत्पन्न हुए हो । मेरी दांयी भुजा ब्रह्मा और बांयी भुजा विष्णु है। तुम दोनों से मैं सम्यक्रूप से प्रीति करता हूँ।[१] इस प्रकार यहाँ पर ब्रह्मा और विष्णु को शिव का ही अंगरूप बताकर एकत्व कथन किया गया है। कुछ स्थलों पर वर्णित इस आख्यान में ब्रह्मा को गौणपद दिया गया है। गरूड़पुराण में सभी देवताओं को विष्णु का स्वरूप कहा गया है, जो कार्य कारण भाव से पृथक रूप धारण करते हैं। विष्णु ही ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, स्वंय हरि उसका पालन करते हैं, तथा रूद्र रूप से वही प्रभु संसार का संहार भी करते हैं।[२] विष्णु पुराण में भी विष्णु ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं। हिरण्यगर्भ में स्थित विश्वेश्वर भगवान

१— वा०पु० — पूर्वार्द्ध, ५५।१४—५८

२— ग०पु० — पूर्वखण्ड, ४/११

विष्णु ब्रह्मा होकर रजोगुण का आश्रय लेकर इस संसार की रचना में प्रवृत्त हुए। संसार की रचना हो जाने पर विष्णु ही कल्पान्त पर्यन्त युग—२ में इसका पालन करते हैं तथा कल्प का अन्त होने पर रूद्र रूप धारण कर वे जनार्दन विष्णु ही समस्त भूतों का भक्षण कर लेते हैं एवं तत्पश्चात् शेषशैय्या पर शयन करते हैं।[1] ब्रह्मा भी तीनों का एकत्व कथन करते हुए सबको नारायणस्वरूप ही बताते हैं। वे कहते हैं कि वास्तव में मैं, शंकर और आप सब नारायणस्वरूप ही है।[2] कुछ स्थानों पर ब्रह्मा को प्रमुख स्थान दिया गया है। एक स्थल पर ब्रह्मा के द्वारा रूद्र की उत्पत्ति कही गई है। एक बार जब ब्रह्मा जी अपने समान पुत्र उत्पन्न होने के लिए चिन्तन कर रहे थे, तभी नील लोहित वर्ण के एक कुमार का प्रादुर्भाव हुआ जिसका नाम रूद्र रखा गया।[3] एक स्थान पर सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण ब्रह्मा को ही कहा गया है कि सर्वप्रथम एक बृहदण्ड की उत्पत्ति हुई। इस अण्ड में ब्रह्मा ही स्थित थे, जिन्होंने रजोगुण से मोहित होकर जगत् की सृष्टि की। वे ही पुरूष हैं तथा वे ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं।[4] पौराणिक मान्यता के अनुसार भी ब्रह्मा ही इस सृष्टि के सृष्टा थे, परन्तु शिव और विष्णु के समान इनके आधार पर भारत में कोई सम्प्रदाय खड़ा न हो सका। ब्रह्मा के मन्दिर भी कम ही थे। अकेले ब्रह्मा की पूजा केवल वैदिक ब्राह्मणों के द्वारा ही विधि—सम्मत कही गई थी। पुराणों में वणित कतिपय स्थल भी ब्रह्मा की इस गौणता को स्वीकार करते हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि पुत्र के शाप के कारण स्वंय प्रजापति अपूज्य हो गये।[5] ब्रह्मा की अपेक्षा विष्णु की महत्ता प्रदर्शित करने

१— वि०पु० — १/२/६१—६४

२— वि०पु० — ५/१/२९

३— वि०पु० — १/८/४

४— वाम०पु०— सौर माहात्म्य, २२/१७—२२

५— ब्र०वै०पु०— १/१२/६

के लिए ही उन्हें विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर आसीन दिखाया गया है। मधुकैटभ के वध के प्रसंग में भी जब विष्णु के कर्णमल से उत्पन्न मधु और कैटभ ब्रह्मा को मारने को उद्यत होते हैं, तब ब्रह्मा द्वारा रक्षा की प्रार्थना किये जाने पर विष्णु ही उनका वध करते हैं।[1] देवीभागवतपुराण में वर्णित लिङ्गोद्भव आख्यान में भी विष्णु एवं शिव की अपेक्षा ब्रह्मा को गौण पद दिया गया है। इसमें वर्णित कथा इस प्रकार है कि एक बार सतयुग में श्वेत द्वीप में महाविष्णु ने ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए तपस्या की। उसी समय दूसरे स्थल पर ब्रह्मा ने भी अनश्वर सुख की प्राप्ति के लिए तप किया। इस प्रकार दोनों ही तपस्या करने में संलग्न थे। तप करते समय ही बीच में मोह की निवृत्ति के लिए विष्णु अपना स्थान छोड़कर विचरण करने लगे। इसी समय ब्रह्मा ने भी मोह की निवृत्ति के लिए विचरण किया। रास्ते में जब वे दोनों आपस में मिले, तो एक ने पूछा कि तुम कौन हो? दूसरे ने भी यही प्रश्न किया तथा अपने को श्रेष्ठ बताया। अन्त में यह प्रश्न एक विवाद के रूप में परिवर्तित हो गया कि दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। दोनों ही अपने में महान शक्ति का आरोप कर रहे थे। इसी समय एक अद्भुत लिङ्ग उत्पन्न हुआ तथा आकाशवाणी भी हुई, कि तुम लोगों को अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध करने के लिए लड़ने की आवश्यकता नहीं है। जो इस लिङ्ग के अन्त को प्राप्त कर लेगा वही दोनों में श्रेष्ठ हैं अतएव तुम लोगों में से एक ऊपर की ओर तथा दूसरा नीचे की ओर जाये। यह सुनते ही उसका अन्त खोजने के लिए विष्णु नीचे की ओर तथा ब्रह्मा ऊपर की ओर गये। बहुत समय तक विष्णु उसे खोजते रहे, परन्तु वह उसके अन्त को न प्राप्त कर सके तथा जिस स्थान से वे गये थे, उसी स्थान पर श्रान्त होकर बैठ गये। ब्रह्मा ऊपर की ओर गये और बहुत दिनों तक खोजते रहे परन्तु वह भी उसके अन्त को न प्राप्त कर सके। रास्ते में उन्हें एक केतकी का पुष्प, जो आकाश से नीचे की ओर आ रहा था, दिखाई पड़ा। ब्रह्मा न

१— देवा०मा०पु०—१/९/५—५८

उसे हर्षपूर्वक पकड़ लिया और वापस लौटकर विष्णु से कहा कि मैं इस पुष्प को लिङ्ग के मस्तक पर से ला रहा हूँ। तुमको विश्वास दिलाने के लिए मैं इसे अपने साथ ले आया हूँ। ब्रह्मा के इस प्रकार कहे जाने पर विष्णु ने कहा कि तुम इसे वहीं से लाये हो, इसका साक्षी कौन होगा। तत्पश्चात् ब्रह्मा ने कहा कि इस निर्जन स्थान में साक्षी कौन हो सकता है, जो सत्य है वह यह पुष्प भी कह सकता है। पुष्प से पूछे जाने पर केतकी ने कहा कि ब्रह्मा लिंग के शिखर से मुझे लेकर आये हैं किन्तु विष्णु को उसके कथन पर भी विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि इसकी सत्यता के विषय में शिव ही साक्षी हैं यह कहते ही शिव भी उस स्थल पर पहुँच गये। उन्होंने मिथ्या कथन के कारण ब्रह्मा का सिर काट लिया तथा केतकी का त्याग कर दिया। इस प्रकार विष्णु और शिव को तो सर्वोच्च स्थान मिला तथा ब्रह्मा मिथ्या कथन के कारण अपूज्य हो गये।[१] कथासरित्सागर में भी यह कथा दी हुई है। इसमें जब ब्रह्मा और विष्णु लिंग का अन्त खोजने में असमर्थ रहे, तब दोनों ने शिव की स्तुति की। स्तुति से प्रसन्न होकर शिव ने वरदान माँगने को कहा। उस समय विष्णु ने तो शिव की सेवा में तत्पर रहने का वरदान माँगा किन्तु ब्रह्मा ने शिव को पुत्र रूप में पाने का वर माँगा जिसको शिव ने पसंद नहीं किया तथा निन्दित होकर वह अपूज्य हो गये।[२] पुराणों में सावित्री के शाप के कारण भी ब्रह्मा के अपूज्य होने का उल्लेख मिलता है। पद्मपुराण में विस्तृत रूप से यह कथा दी गई है। एक बार ब्रह्मा ने पुष्कर में यज्ञ किया। शिव, विष्णु तथा सभी ऋषि वहाँ पर पहुँचे। यज्ञ के लिए सभी कुछ तैयार था, लेकिन सावित्री जो गृहकार्य में संलग्न थीं, वह वहाँ नहीं पहुँची थीं। शुभ मुहुर्त निकला जा रहा था, अतएव एक पुरोहित सावित्री को लाने के लिए उसके पास पहुँचा। सावित्री ने उससे कहा कि मैं अभी तैयार नहीं हूँ। मुझको अभी बहुत से कार्य करने बाकी है तथा लक्ष्मी, भवानी, गंगा, स्वाहा, इन्द्राणाी आदि देवियाँ भी वहाँ नहीं पहुँची

१— देवी भा०पु० — ५/३३/१५—४७
२— कथासरित्सागर — तरंग १, उद्धृत — पौराणिक इन्साइक्लोपीडिया—बी०मणि, पृ० १५०

हैं। अतएव स्त्रियों में अकेली मैं ही वहाँ पर कैसे जाऊँ। अकेले मैं कैसे यज्ञशाला को पार करूँगी। उसके यह कहने पर पुरोहित वापस लौट आया और ब्रह्मा से कहा कि वह बिल्कुल अभी आने को तैयार नहीं है, क्योंकि उन्हें अभी कुछ कार्य करने बाकी हैं। इस पर क्रोधित हो ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा कि अब यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम कहीं से भी मुझे पत्नी लाकर प्रदान करो, पर यह कार्य शीघ्र होना चाहिए। इस पर इन्द्र ने गायत्री को लाकर उस स्थान पर बैठा दिया। ऋषियों एवं देवताओं की कृपा से ब्रह्मा ने उसका पाणिग्रहण किया, तथा उसे पत्नी के रूप में स्वीकार कया। इसी बीच सावित्री तैयार होकर आयीं, पर जब उसने अपने स्थान पर अन्य स्त्री को बैठे देखा, तो उसने ब्रह्मा से कहा कि तुमने यह पाप कैसे किया, क्या तुमने मेरे साथ विवाह नहीं किया है, क्या तुमने अग्नि के सामने प्रतिज्ञा नहीं की थी? और क्या तुम इस कर्म से लज्जित नहीं हो। इस प्रकार क्रोधित होकर उसने ब्रह्मा को शाप दिया कि कार्तिक मास के अतिरिक्त तुम्हारी कोई पूजा नहीं करेगा। इस प्रकार देवताओं में ब्रह्मा अपूज्य घोषित हो गये।

ब्रह्मा के अतिरिक्त शिव और विष्णु में भी परस्पर स्पर्धा दिखाई पड़ती है। कहीं पर शिव को विष्णु से ऊँचा स्थान दिया गया है और कहीं पर विष्णु को शिव से। एक स्थल पर कहा गया है कि प्रारम्भ में शिव ही सर्वोच्च देवता थे। इस सन्दर्भ में वनपर्व के एक स्थल का उद्धरण दिया गया है कि शिव ने अपनी दायीं ओर से ब्रह्मा तथा बांयी ओर से विष्णु की रचना की लेकिन जब आर्यों का प्रभाव बढ़ा तब ब्रह्मा मुख्य देवता हो गये तथा शेषशायी नारायण के बाद मुख्य स्थान उनको ही मिला। इस समय नारायण के साथ विष्णु का एकीकरण भी किया गया तथा नारायण के साथ विष्णु की एकता स्थापित किये जाने के अनन्तर मुख्य स्थान विष्णु को ही मिला क्योंकि ब्रह्मा का स्थान नारायण के बाद था। इस प्रकार यहाँ पर पहले शिव को फिर ब्रह्मा को एवं अन्त में विष्णु को प्रमुख स्थान मिला। शिव और विष्णु की इस स्पर्धा का

१—प०पु०—१/१६/९६—११०, १७/१२५—१५४

प्रत्यक्ष प्रमाण उन मन्दिरों में भी देखा जा सकता है, जो पहले शैव मन्दिर थे किन्तु बाद में वैष्णव मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। इसके अन्तर्गत उदयपुर से अड़तालीस किलोमीटर दूर नाथद्वार में श्रीनाथ के मन्दिर की गणना की जा सकती है। इसमें कृष्ण की पूजा होती है। कहा जाता है कि पहले यह भैरव की मूर्ति थी। इसी प्रकार तिरूपति की पहाड़ी पर एक वराह की मूर्ति परिवर्तित की हुई है, जिसकी बालाजी के रूप में पूजा की जाती है। कुछ लोगों के अनुसार यह पहले देवी का मन्दिर था जो बाद में विष्णुमन्दिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।[१] इस प्रकार इन तीनों देवताओं में यद्यपि परस्पर स्पर्धा होती रही है, लेकिन फिर भी इनके एकत्व का भी कथन हुआ है। अधिकांश पुराणों में इन तीनों देवताओं में विष्णु को प्रमुख स्थान दिया गया है। देवीभागवतपुराण में एक ही मूर्ति में तीनों देवताओं का वर्णन करते हुए विष्णु को मुख्य देवता कहा गया है।[२] पुराणों में विष्णु से ही ब्रह्मा और ब्रह्मा से ही रूद्र की उत्पत्ति कही गई है। इस रूप में यद्यपि यह तीनों देवता अलग–अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुत: यह उस परम ईश्वर के ही विविध रूप हैं तथा कल्प के अन्त में ये पुन: एक रूप हो जाते हैं। यह त्रिदेववाद तीनों में से एक पक्ष की ओर अधिक झुका हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि अनेक स्थानों पर इन तीनों में से एक देवता को ही प्रमुख मानकर उससे ही तीनों एवं अन्य देवताओं की उत्पत्ति कही गई है। वस्तुत: देखा जाय तो यह त्रिदेव कल्पना एक कृत्रिम उत्पत्ति थी जिसका वास्तविक प्रभाव नगण्य था क्योंकि इसके बाद भी वैष्णव और शैव सम्प्रदाय विशेषज्ञ प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जिसमें विष्णु एवं शिव को ही मुख्य स्थान दिया गया लेकिन फिर भी पुराणों में तथा इसके बाद भी त्रिदेवों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। इसके ही प्रतीक रूप में अनेक स्थानों पर इन त्रिमूर्तियों का वर्णन मिलता है। एलीफेन्टा की त्रिमूर्ति भी अपनी भव्यता और गरिमा के लिए विश्व विश्रुत है।

१– ए०भ०ओ०रि०इ०, खण्ड २९, वर्ष १९४८, पृ० २२४

२– तैषां मध्ये हरि: श्रेष्ठो माधव: पुरूषोत्तम:।
आदिदेवो जगन्नाथ: समर्थ: सर्वकर्मसु ।। देवीभा०पु० १/८/५

इस प्रकार पुराणों में सभी देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और शिव को सर्वोच्च स्थान दिया गया था, तथा ये ही उस काल के प्रमुख देवता थो। यह उस परम ईश्वर की शक्तिरूप थे, जिससे सम्पूर्ण संसार प्रकट हुआ है। अतएव इन तीनों देवताओं के सर्वोच्च्य रूप को प्रकट करने के लिए पुराणों में देवत्रयी का विकास हुआ। इस देवत्रयी में विष्णु संसार का पालन करने वाले तथा प्रजा के रक्षक थे। अधिकांश पुराणों में विष्णु या नारायण ही इस त्रिमूर्ति के कारण रूप हैं अतएव देवत्रयी में विष्णु को विशेष स्थान प्राप्त हुआ। इस देवत्रयी में बाद में ब्रह्मा के अपूज्य घोषित किये जाने पर विष्णु और शिव ही दो मुख्य देवता रह गये थे, जिनसे वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का उदय हुआ था। इसमें वैष्णव सभी देवताओं की उत्पत्ति विष्णु से तथा शैव सभी देवताओं की उत्पत्ति शिव से स्वीकार करते थे। दृष्टिकोण के इस भेद के कारण मतभेदों का तथा कुछ अंशों में अत्याचारों का भी उदय हुआ, अतएव इन दोनों देवताओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। दोनों देवताओं के एक रूप हरिहर की कल्पना इसी का प्रतीक है। इसमें एक ही मूर्ति में हरि और हर के स्वरूप की कल्पना की जाती थी।

<u>हरिहर कल्पना</u>–

पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्य देवताओं में समन्वय स्थापित करने के लिए देवताओं के त्रिधारूप त्रिमूर्ति का विकास हुआ था, लेकिन छठीं शताब्दी ईसापूर्व में धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ। पुराणों में विष्णु एवं शिव विशेष रूप से लोकप्रिय थे, अतएव इनको ही आधार बनाकर वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि ये दो पृथक–पृथक सम्प्रदाय थे, लेकिन फिर भी इनमें समन्वय की भावना भी दिखाई पड़ती है तथा इसी के प्रतीक रूप में हरिहर की कल्पना का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत एक ही मूर्ति में हरि (विष्णु) और हर (शिव) के स्वरूप की कल्पना कर उपासना की जाती थी। हरिहर की उपासना पद्धति का विकास मध्ययुग में विशेष रूप से हुआ। दक्षिण में भी इसे कुछ

सफलता प्राप्त हुई, जहाँ विजयनगर के राजाओं ने हरिहर मन्दिरों का संरक्षण किया।[1]

हरिहर की एकता के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। इस सम्बंध में उनकी प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि हरि (विष्णु) तथा हर (शिव) दोनों की प्रकृति (धातु) एक ही है। प्रत्यय का भेद होने से ही रूप का भेद है, अर्थात् इन दोनों में एक ही हृ धातु है, केवल विभिन्न प्रत्ययों के योग के कारण एक ओर हरि शब्द निष्पन्न होता है और दूसरी ओर हर। नट की नाना प्रकार की भूमिका के समान ही यह व्यापार संचारित होता है।[2] वैयाकरण विष्णु और शिव की एकता के विषय में कहते हैं कि प्रत्यय भेद होने से भी अर्थ का भेद नहीं है — सर्वाणि पापानि दुःखानि वा हरतीति हरिः अथवा हरः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भजने वाले भक्तों के सभी पापों या दुःखों को हरण करने से हरि हुए और इसीलिए हर भी हुए। विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति 'वैवेष्टि सर्व विश्वं इति विष्णुः' अर्थात् जो समस्त विश्व में व्याप्त हो, वही विष्णु है, इस रूप में की गई। शिव का अर्थ भी इसी प्रकार किया गया है कि 'शेते सर्व जगत् यास्मिन् इति शिवः' अर्थात जिसमें समस्त जगत् शयन कर रहा है, वही शिव है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से भी दोनों में काफी साम्य है, क्योंकि शिव में सम्पूर्ण जगत् शयन करता है अतएव शिव सभी में व्याप्त हैं, तथा विष्णु भी सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाले हैं।

१— ए०एल० बाशम — अद्‌भुत भारत, पृ० ३१९

२— हरिहरयोः प्रकृतिरेका प्रत्ययमेदेन रूपमेदोऽयम्।

एकस्यैव नटस्यानेक विधा भूमिकामेदात्।।

उद्‌धृत — कल्याण, १९७२, विष्णु अंक, पृ० ५२०

पुराणों में भी विष्णु और शिव की एकता के सम्बंध में अनेक प्रमाण मिलते हैं। वस्तुत: विष्णु तथा रूद्र में कोई अन्तर नहीं है। जो स्वरूप से विष्णु है वही रूद्र है। एक ही मूर्ति दो रूपों में अवस्थित है।[1] वामनपुराण में भी विष्णु और शिव को अभिन्न कहा गया है। शिव कहते हैं कि जो मैं हूँ, वही विष्णु है एवं जो विष्णु है, वही अविनाशी मैं हूँ। हम दोनों में कोई भेद नहीं है।[2] वायुपुराण में कहा गया है कि महेश्वर परमदेवता है। विष्णु में भी परमदेवत्व की प्रतिष्ठा है, पर उनका स्थान महेश्वर के उपरान्त आता है।[3] इसी पुराण में एक अन्य स्थान पर दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए सम्पूर्ण विश्व को रूद्र नारायणात्मक कहा है। शंकर विष्णु से कहते हैं कि मैं अग्नि हूँ, आप सोम हैं। आप रात्रि हैं, मैं दिन हूँ। आप ऋत हैं, मैं सत्य हूँ। आप यज्ञ हैं मैं फल हूँ। पुण्यशाली व्यक्ति मुझमेंप्रवेश कर आपसे प्रीति करता है। हम दोनों के साथ ही इस संसार की गति है। जिस प्रकार मेरे आधे शरीर में आप हैं, उसी प्रकार आपके शरीर में मैं हूँ। यहाँ पर स्पष्ट रूप से उनके हरिहर रूप का वर्णन किया गया है। पद्मपुराण में कहा गया है कि एक ही मूर्ति दो रूपों में अवस्थित है, अतएव इसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।[5]

---

१. *योडसो विष्णुस्वरूपेण स वै रूद्रो न संशय: या रूद्रो विथतै राजन स च विष्णु: सनातन:।*
उभयोरन्तरं नास्ति तस्माच्चैव वदाम्यहम् ॥ प०पु० २/८३/३८—९

२. *वाम पु० ४१/२७—२८*

३. *वा०पु० पूर्वार्द्ध, १/१८४—८५*

४. *वा०पु० पूर्वार्द्ध २५/२१—२३*

५. *विष्णु: शिव: शिवो विष्णु: एक मूर्ति द्विविधास्थिता ।*
तस्मात् सर्वप्रकारेण नैव निन्दां प्रकारयेत् ॥

जो वैष्णव शिव की तथा जो शैव विष्णु की निन्दा करते हैं, वे दोनों रौरव नरक को प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर लक्ष्मी भी शिव से विष्णु के वचनों का उल्लेख करती हुई कहती है कि शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। मेरे जो भक्त महेश्वर से द्वेष करते हैं, वे नरक को प्राप्त होते हैं।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि इस घोषणा के द्वारा वैष्णव तथा शैव मतावलम्बियों में पारस्परिक सौहार्द स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

शिव और विष्णु में परस्पर ऐक्य स्थापित किये जाने पर भी कहीं–कहीं उनमें स्पर्धा की भावना भी दिखाई पड़ती है। इसमें कहीं पर शिव को प्रमुख स्थान दिया गया है और कहीं पर विष्णु को । गंगावतरण के प्रसङ्ग में शिव की अपेक्षा विष्णु को महत्ता दी गई है। यहाँ पर विष्णु के चरणनखों से निःसृत गंगा को शिव मस्तक पर धारण करते हैं ।[२] विष्णु पुराण में शिव द्वारा विष्णु वधाख्यान का वर्णन मिलता है, किन्तु यहाँ पर भी शिव की अपेक्षा विष्णु की महत्ता दिखाई पड़ती है। कृष्ण द्वारा काशी नरेश पौण्ड्रक का वध किये जाने पर जब उसके पुत्र ने शंकर को प्रसन्न कर अपने पिता का वध करने वाले के लिये कृत्या उत्पन्न करने को कहा, तब शिव ने विष्णु का वध करने के लिये कृत्या का निर्माण किया, किन्तु विष्णु ने अपने चक्र द्वारा उस कृत्या, संपूर्ण काशी तथा वहाँ स्थित लोगों को भस्म कर दिया ।[३] कुछ स्थलों पर विष्णु द्वारा शिव की स्तुति का वर्णन मिलता है। विष्णु ने शिवोपासना द्वारा सन्तान प्राप्ति का वर माँगा था ।[४]

---

१. *देवी भा० पु० ६/१८/४६–४७*

२. *प० पु०६/२४०/४१–५३; ब्र० पु० ७३/६८–६९*

३. *वि० पु० ५/३४/२८–४३*

४. *देवी भा० पु० ७/२/११–१३*

एक अन्य स्थल पर यादवों का नाश करने, विभिन्न राक्षसों का वध तथा अवतार लेने पर विभिन्न मानवीय दुष्ट चेष्टाओं से युक्त हो जाने के कारण कृष्ण शिव की आराधना करते हैं।[१] पद्मपुराण में शिव की महानता को सूचित करते हुए कहा गया है कि शिव की भस्म के प्रभाव से विष्णु शिव के भक्त हो गये तथा उन्होने शिव से महाज्ञान प्राप्त किया ।[२] रामावतार में विष्णु शिवलिङ्ग की स्थापना एवं पूजन स्तवन करते हैं तथा परशुरामावतार में भी वे शंकर की आराधना के द्वारा ही अस्त्राणाम, शैवास्त्र, एवं भय प्रदान करने वाला परशु प्राप्त करते हैं।[३] देवीभागवतपुराण में दुर्वासा को शंकर का अवतार और विष्णु का भक्त बताया गया है।[४] श्रीमद्भागवत पुराण में शिव को परम वैष्णव कहा गया है।[५] वायुपुराण में नैमिषारण्य के ऋषि वायु से पूछते हैं कि जब सभी देवता विष्णुमय हैं, तो विष्णु रूद्र को प्रणाम क्यों करते हैं? इन दोनों में प्रीति किस प्रकार हुई। यहाँ पर इन दोनों में प्रीति का कारण मेघवाहन नामक कल्प बताया गया है, जिसमें विष्णु ने मेघ के रूप में सैकड़ों वर्षो तक धर्मवरानधारी महादेव को धारण किया था ।[६] एक अन्य स्थान पर विष्णु शिव से वरदान मांगते हैं वरदान देने के उपरान्त शिव विष्णु के प्रति अपनी प्रीति प्रदर्शित करते हैं।[७] इस वर्णन में विष्णु और शिव दोनों में समानता दिखाई पड़ती है। विष्णु का आयुध सुदर्शन चक्र भी शिव द्वारा ही प्राप्त कहा गया है। श्रीदामा नामक असुर का वध करने के लिये तपस्या करते समय शिव ने उन्हें इस चक्र को प्रदान किया था।[८] कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ शिव की अपेक्षा विष्णु को ही महान कहा गया है।

---

१. *देवी भा० पु० ५/१/९–२०*
२. *प०पु० ५/१०५/११८–३८*
३. *ब्रह्म पु० ३/२४/१–८८*
४. *देवी भा० पु० ९/४१/२९*
५. *श्रीमद पु० १२/१३/१४*
६. *वा० पु० पूर्वार्द्ध २१/६,७,४६*
७. *वा० पु० पूर्वार्द्ध २५/१९–२६*
८. *वाम० पु० ५६/२२*

विष्णुपुराण में रूद्र को विष्णु का ही रूप मानते हुए कहा गया है कि इस रूप में वे जगत का संहार करते हैं।[1] एक अन्य स्थल पर पिनाकधारी शिव में विष्णु की ही प्रतिष्ठा मानी गई है।[2] वामनपुराण में शिव विष्णु की कृपा से ही ब्रह्मा के कपाल से मुक्ति प्राप्त करते हैं। एक बार ब्रह्मा और शिव में विवाद हुआ, जिसमें ब्रह्मा के विजित होने पर शिव ने ब्रह्मा के परूषभाषी शिर को काट दिया । वह कटा हुआ सिर शंकर के बांयी हथेली पर चिपक गया और उस पर से जब वह किसी प्रकार भी न हटा, तब विष्णु की स्तुति किये जाने पर उनकी कृपा से ही शिव उस कपाल से मुक्ति प्राप्त कर सके।[3] संभवत: इसीलिये शिव उन्हें अपनी प्रभुता का कारण मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रूद्र की अपेक्षा विष्णु की यह महत्ता यज्ञ के कारण थी, लेकिन यहाँ पर इन दोनों में समन्वय की भावना को विशिष्ट स्थान दिया गया है। विष्णु और शिव का यही समन्वयात्मक रूप हरिहर रूप में दिखाई पड़ता है। वामनपुराण में हरिहर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे रूद्र एवं विष्णु के सहस्त्रों चिन्हों से युक्त थे । उनका अर्द्धांश हर शरीर तथा अर्द्धांश हरि शरीर था एक अर्द्धांश खगध्वज वृषारूढ़ था, एवं अन्य वृषध्वज गरूडारूढ़ था ।[4] मत्स्यपुराण में हरिहर प्रतिभा के स्वरूप का उल्ेख करते हुए वाभार्द्ध में माथव एवं दक्षिणार्थ में शिव की स्थिति बताई गयी है। वामार्द्ध में माधव की दोनों बाहु मणि और केयूर से भूषित होनी चाहिए, तथा वे अपने हाथों में शंख एवं चक्र धारण किये हुए हों । चक्र के स्थान पर गदा भी धारण कराई जा सकती है, वे अपने अङ्ग पर पीतवस्त्र धारण किये हुए हों, तथा चरण मणियों से भूषित हों । दक्षिणार्द्ध भाग जटा एवं अर्धेन्दु से भूषित हो, गले में सर्पो का हार एवं दक्षिण हस्त वरद मुद्रा में हो तथा वाम भाग में त्रिशुल हो । वे व्याल का उपवीत तथा कटि में अर्ध वस्त्र धारण किये हों एवं उनके पैर नाग एवं मणियों से युक्त हों।[5] एक स्थान पर हरिहर के

---

१. *वि०पु० ३/१७/२६*
२. *वि०पु० १/९/६९*
३. *वाम० पु० २/२२–५५*
४. *वाम० पु० ४१/४७–४८*
५. *म०पु० २६०/२१–२७*

स्वरूप का वर्णन करते हुए विष्णु कहते हैं कि मेरे शरीर में शंकर संयुक्त होकर स्थित है तथा यह कहकर उन्होने देवताओं को अपने हृदय कमल में शयन करने वाले ईश्वरीय लिङ्ग को दिखाया।[1] भागवतपुराण में विष्णु के विराट रूप का वर्णन करते हुए उनके अहंकार को रूद्र कहा है।[2] हरिहर में समानता प्रतिपादन की पुष्टि करते हुए विष्णु ब्रह्मा से कहते हैं कि मुझे और शिव को समान भाव से देखने वाला शिव भक्त शालग्राम सम्पन्न व्यक्ति ही वैष्णव है।[3] इस प्रकार पुराणों में हरिहर स्वरूप के द्वारा विष्णु एवं शिव में समन्वय स्थापित किया गया है। दक्षयज्ञ विध्वंस के आख्यान में भी ब्रह्मा ने दोनों का समन्वय स्थापित किया है। दक्ष के यज्ञ में जब सती और शंकर को भाग नहीं मिला, तब प्रिया सती के कहने पर शंकर ने यज्ञ को विध्वंस करने के लिये वीरभद्र को उत्पन्न किया । वीरभद्र जब यज्ञस्थल पर पहुँच कर यज्ञ को भस्म करने लगा तब वहाँ उपस्थित ऋषियों एवं देवताओं के साथ उसका युद्ध हुआ । विष्णु के साथ युद्ध होने पर उसने अपने तीक्ष्ण बाणों से उनके सुदर्शन चक्र को स्तम्भित कर दिया । किन्तु इसी समय पद्मसम्भव ब्रह्मा ने वहाँ आकर युद्ध विराम कराया तथा विष्णु के ईश्वरत्व को कहा । उस समय तक शिव भी वहाँ पर पहुँच गये थे । जब ब्रह्मा ने देवाधिदेव शिव को वहाँ पर देखा तब उन्होने शिव को भी स्तुति की तथा दोनों के एक रूपत्व का वर्णन किया ।[4] उषा अनिरूद्ध आख्यान में भी विष्णु एवं शिव में समन्वय स्थापित करते हुए उन्हें एक रूप कहा गया है। इस आख्यान में जब बाणासुर की पुत्री उषा और कृष्ण के पौत्र अनिरूद्ध का विवाह हुआ, तब कृष्ण और शिव में घोर युद्ध हुआ । युद्ध करते समय जब श्री गोविन्द ने जृम्भिकास्त्र छोड़ा, तब शंकर निद्रित से

---

१. *वाम पु० ३६/२०—२३*

२. *श्रीमद पु० १०/६३/३५*

३. *प० पु० ७/२६/२८*

४. *कु० पु० पूर्वभाग १५/१—९१*

होकर जमुहाई लेने लगे और श्री कृष्ण से युद्ध न कर सके । इसके पश्चात कृष्ण का बाणासुर से युद्ध हुआ । युद्ध में कृष्ण ने वाणासुर की दो भुजायें छोड़कर अन्य भुजायें अपने सुदर्शन चक्र से काट डाली । उसके बाद जब वह उसका वध करने के लिये चक्र छोड़ना ही चाहते थे, उसी समय शंकर ने विष्णु की स्तुति करते हुए कहा कि मैंने इस बाणासुर को अभयदान दिया है। हे नाथ ! मैंने जो वचन दिया है उसे आप मिथ्या न करें । यह आपका अपराधी नहीं है। यह तो मेरा आश्रय पाने से ही इतना गर्वीला हो गया है, इसलिये मैं ही इसे आपसे क्षमा कराता हूँ तत्पश्चात विष्णु ने कहा कि हे शंकर ! यदि आपने इसे वर दिया है, तो यह जीवित रहे । आपके वचन का मान रखने के लिये इस चक्र को रोक लेता हूँ । हे शंकर । आप अपने को मुझसे सर्वधा अभिन्न देखें । आप यह भली प्रकार समझ लें, कि जो मैं हूँ सो आप हैं तथा यह सम्पूर्ण जगत देव असुर और मनुष्य आदि कोई भी मुझसे भिन्न नहीं है। हे हर ! जिन लोगों का चित्त अविद्या से मोहित है, वे भिन्नदर्शी पुरुष ही हम दोनों में भेद देखते हैं।[1] लिङ्गोद्भव आख्यान में भी ब्रह्मा के असत्य बोलने पर बाद में शिव और विष्णु एकरूप हो जाते हैं। इस प्रकार शिव और विष्णु के एकरूपत्व में यद्यपि समन्वय स्थापित किया गया है, तथापि इस समन्वय में भी प्रच्छन्न रूप से किसी आख्यान में शिव की महत्ता प्रतिपादित की गयी है और किसी में विष्णु एवं शिव में समन्वय स्थापित किया गया है। कुछ स्थलों पर विष्णु की शिव से तथा कुछ स्थलों पर शिव से विष्णु की उत्पत्ति कहीं गई है। आध्यात्म रामायण में राक्षसों के राज्य स्थापन का विवरण देकर अगस्त्यमुनि भगवान राम के विराट स्वरूप की कल्पना करते हुए उनका स्तवन करते हैं । यहाँ पर कहा गया है कि राम के क्रोध से त्रिनयन महादेव की उत्पत्ति हुई ।[2] वस्तु

---

१. *वि० पु० ५/३२/११–३०; ३३/१–५०*

२. *आ० रा० उत्तकाण्ड, २/६८*

यहाँ शिव के प्रति कोई हीन भाव व्यक्त नहीं किया गया है, वरन उन्हें राम के विराट् स्वरूप का ही एक अङ्ग बताकर अङ्ग–अङ्गीभाव प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार यद्यपि शिव और विष्णु में विद्वेष तथा पारस्परिक स्पर्धा की झलक दिखाई पड़ती है, किन्तु वहाँ अधिक महत्व समन्वय को ही दिया गया है। शिव और विष्णु में परस्पर होने वाली इस स्पर्धा का मुख्य कारण उनकी श्रेष्ठता प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही थी । इस समन्वय को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भी एकत्व स्थापना पर ही विशेष बल दिया गया था । हरिहर का आविर्भाव मुख्यत: शैव एवं वैष्णवों के संघर्ष परिणाम था अनेक पौराणिक आख्यानों में शिव और विष्णु का संघर्ष होता है किन्तु उनकी परिणति समन्वयात्मक ढंग से ही हुई है। हरिहर के मन्दिरों का निर्माण भी विष्णु और शिव के समन्वय का ही प्रतीक है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस समन्वय के द्वारा विविध संप्रदायों को समीप लाने का भी प्रयत्न किया गया था ।

इस प्रकार उपयुर्क्त अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि पुराणों में विष्णु एक महान देवता हैं । लगभग सभी पुराणों ने उन्हे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। ये सम्पूर्ण सृष्टि के मूल कारण एवं परब्रह्म स्वरूप है। देवत्रयी में भी विष्णु को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। वे रक्षक एवं प्रजा का पालन करने वाले देवता है। इनकी व्यापकता का भी सर्वत्र ही वर्णन किया गया है। पुराणों में विष्णु का नारायण रूप में वर्णन विशेष रूप से मिलता है, एवं मुख्यत: प्राय: इसी रूप में उनकी कल्पना की गई है। यह नारायण आदि पुरुष के रूप में गृहीत हुए हैं । विष्णु के समान विशेषतायें होने के कारण इनका विष्णु के साथ एकीकरण किया गया है एवं इसी कारण यह नारायण विष्णु कहे गये हैं। पुराणों में विष्णु का वासुदेव कृष्ण के साथ भी तादात्म्य स्थापित किया गया है तथा उनके चतुर्व्यूह रूप का भी वर्णन मिलता है। पुराणो में विष्णु का शिव एवं ब्रह्मा के साथ भी संबंध दिखाई पड़ता है। वस्तुत: तीनों में कोई भेद नहीं है अतएवं इसी कारण त्रिमूर्ति की भी कल्पना की गयी है। किन्तु बाद में ब्रह्मा के अपूज्य घोषित किये जाने पर

वैष्णव और शैव संप्रदायों का समन्वय करने वाला हरिहर रूप भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । इस प्रकार विष्णु, जिसको ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या के आधार पर गौण स्थान दिया गया था, उसने ही ब्राह्मणकाल से लेकर पुराणों तक विशेष महत्व प्राप्त कर लिया । पुराणों में विष्णु के विविध अवतारों, तीर्थों, मन्दिरों तथा पूजा के लिये प्रयुक्त सामग्रियों, स्त्रोतों आदि का वर्णन भी मिलता है।

अध्याय : चतुर्थ

भागवत पुराण में भक्ति

- भागवत का रचनाकाल
- भागवत का रचनाक्षेत्र
- भागवत में भक्ति विवेचन
- भागवतकार की दृष्टि में भक्ति की वरीयता एवं उत्कृष्टता
- भक्ति के प्रकार
- नवधा अथवा नवलक्षणा भक्ति
- भक्ति की आसक्तियाँ
- भक्ति की सुलभता
- भक्त लक्षण
- भक्त महिमा
- भक्तों के भेद

भागवत पुराण में भक्ति

भागवत पुराण कृष्ण लीला और भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है । महाभारत से लेकर पुराणों तक कृष्ण भक्ति का जितना भी विवेचन हुआ है, वह सब समन्वित रूप में भागवत में मिल जाता है ।

भागवत का रचनाकाल :

पौराणिक मान्यतानुसार भागवत व्यासकृत अष्टादश पुराणों में अन्तिम है । महाभारत[१] तथा सत्रह पुराणों के अनन्तर भी जब महर्षि वेदव्यास का मन शान्ति लाभ नहीं कर सका, तब देवर्षि नारद के उपदेशानुसार उन्होंने भागवत की रचना की, और उन्हें परम शक्ति की अनुभूति हुई।[२] विद्वानों ने भागवत का रचनाकाल ईशा की तीसरी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के मध्य निर्धारित किया । श्री वी०आर० दीक्षितार ने भागवत पुराण को ईशा की तीसरी शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है । फर्युहर नवीं शताब्दी, सी०वी० वैद्य दसवीं शताब्दी, विल्सन १३वीं शताब्दी ईश्वी भागवत का रचनाकाल स्वीकार करते हैं ।[३] किन्तु विण्टर नित्ज महोदय, विल्सन की १३वीं शताब्दी विषयक मान्यता को जल्दीबाजी में लिया गया निर्णय मानते हैं, क्योंकि उनके मान्यतानुसार यह ग्रन्थ इतना अर्वाचीन नहीं हो सकता ।[४] आचार्य बलदेव उपाध्याय भागवत का रचनाकाल सप्तम शती के पूर्व मानते हैं । प्रमाण स्वरूप उन्होंने आचार्य शंकर द्वारा प्रणीत कतिपय स्रोतों पर भागवत का प्रभाव एवं शब्द साम्य परिलक्षित किया है । आचार्य शंकर का

१— भागवत १/४/२८—२९

२— रामायण मीमांसा — पृष्ठ — ३१४

३— रामचरित मानस पर पौराणिक प्रभाव —पृष्ठ— पर उद्घृत मतों के अनुसार ।

४— प्राचीन भारतीय साहित्य — विण्टरनित्जकृत— 'इण्डियन लिटरेचर' का हिंदी अनुवाद— अनुवादक डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय — पृष्ठ—२१८

आर्विभाव काल सप्तम शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः भागवत का रचनाकाल छठीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता । ग्यारहवीं शताब्दी में भारत आने वाले विद्वान अल्बरूनी ने अपने भारत विषयक ग्रंथ में हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य का विवरण प्रस्तुत किया है ।[१] जिसमें उसने १८ पुराणों की नामावली दी है, इस नामावली में वासुदेव भागवत के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अल्बरूनी के भारत आगमन के समय तक भागवत की प्रसिद्धि हो गई थी। इस स्थिति तक पहुँचने में भागवत को कम से कम दो शतक का समय अवश्य लगा होगा । इस अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भागवत पुराण आठवीं अथवा नवीं शताब्दी के बाद की रचना नहीं है ।[२] कुछ विद्वानों ने श्रीमद्‌भागवत की रचना को आचार्य रामानुज १०१७ ई० से पूर्ववर्ती और कुछ ने उनसे परवर्ती माना है ।

भागवत का जो रूप आज उपलब्ध है, उसमें १२ स्कंध ३१५ अध्याय और १४६१५ श्लोक है । भागवत का मुख्य विषय भगवान विष्णु के २४ अवतारों तथा उनके द्वारा भगवान की अपरिमित शक्तियों का वर्णन करना है । भागवत के प्रथम दो स्कंध भूमिका स्वरूप है । महाभारत के अन्त में परीक्षित ने किस प्रकार भागवत की कथा को शुकदेव से सुना इसका वर्णन इन स्कन्धों में है । तीसरे स्कंध से भगवान के अवतारों का विवेचन प्रारम्भ होता है और आठवें स्कन्ध तक शूकर, ऋषभदेव, नृसिंह, वामन, मत्स्य आदि गौण अवतारों का वर्णन है । नवम स्कंध में राम और दशम स्कंध में कृष्ण अवतार का विस्तृत वर्णन है । एकादश और द्वादस स्कंधों में हंस और कल्कि अवतारों का उल्लेख हैं ।

१— तहकीके उलहिन्द — १२वें अनुच्छेद में

२— गुप्त साम्राज्य का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास । वी०एन० लूनिया पृष्ठ—३७

भागवत का रचना क्षेत्र :

भागवत के रचनाक्षेत्र के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । अत: साक्ष्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भागवत की रचना दक्षिण देश में हुई । भागवतकार अपने भौगोलिक वर्णनों में दक्षिण के वन, पर्वत, तीर्थ, प्रदेश, नदी, पुष्पादि से अपेक्षाकृत सुपरिचित है । भागवत वर्णित दक्षिण प्रदेश का वर्णन प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित प्रतीत होता है, जबकि उत्तर भारत का वर्णन श्रुति परम्परा पर । भागवतकार ने वर्णन किया है कि कलियुग में कहीं–कहीं नारायण पारायण जन होंगे, लेकिन द्रविण देश में अधिक भक्त पाए जायेंगे । उस दक्षिण प्रदेश में परमपवित्र, ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, कावेरी, महानदी और प्रतीची नदियाँ प्रवाहित होती है, जो मनुष्य इन नदियों का जल पीते हैं, प्राय: उनका अन्त: करण शुद्ध हो जाता है और वे भगवान वासुदेव के भक्त हो जाते हैं ।[१]

विद्वानों का अनुमान है कि भागवतकार का यह संकेत कदाचित आलवार भक्तों की ओर जान पड़ता है । भगवान ऋषभदेव ने दक्षिण प्रदेशों कोंक, वेंक, कुटक आदि में भ्रमण करते हुए कर्णाटक देश में अपनी इह लौकिक लीला समाप्त की ।[२] भागवत के एक स्थल पर वर्णित है कि विदर्भराज की पुत्री मत्तलोचना का विवाह पान्ड्यन नरेश मलयध्वज से हुआ, उससे एक कन्या तथा सात पुत्र उत्पन्न हुए जो आगे चलकर द्रविण देश के सात राजा हुए ।[३] भागवतकार ने बलराम तीर्थयात्रा प्रसंग का वर्णन करते समय प्रवीण के वेंकटाचल, कामकोष्ठी (कामाक्षी), दक्षिण मथुरा, कान्ची, श्रीरंगक्षेत्र, सेतुबन्ध, कावेरी कृतमाला, ताम्रपर्णी, दक्षिण समुद्र स्थित कन्या कुमारी, आदि तीर्थ स्थलों का विस्तृत विवेचन किया है ।[४]

१— भागवत पुराण —११/५/३८, ३९, ४० कलौखलु भविष्यन्ति ———मलाशया· ।

२— भागवत ५/६, ७

३— भागवत ४/२८/२९, ३०

४— भागवत १०/७९/१३—२०

इन भौगोलिक वर्णनों के अन्त: साक्ष्य के आधार पर इतना सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भागवत का रचनास्थल दक्षिण भारत ही रहा होगा ।

पुष्प वर्णनों में भी भागवतकार ने बहुलता से जिन पुष्प नामों का उल्लेख किया है, उनका उद्‌गम स्थल दक्षिण भारत ही प्रतीत होता है । इस विषय में विद्वानों में पूर्ण मतैक्य है कि भागवत का लेखक द्रविण देश का रहने वाला था ।[१]

अत: इस आधार पर भी भागवत का रचना स्थल दक्षिण देश ही प्रतीत होता है ।

भागवत में भक्ति विवेचन :

संस्कृत की 'भज' सेवायाम् धातु से निर्मित ''भक्ति'' शब्द का अर्थ है – भगवान की सेवा करना । भक्ति शब्द में 'भज' धातु का अधिक समीचीन अर्थ शरण में जाना या भाग लेना है।[२] महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है ।[३] उनके मत में भक्ति अमरत्व प्रदान करती है । द्वेष की विरोधिनी तथा रस शब्द से प्रतिपाद्य होने के कारण भक्ति राग रूपा है। वह अनन्त फलवाली है ।[४] ज्ञान की भाँति भक्ति भी कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा न रखने के कारण क्रिया रूपा नहीं है ।[५] भक्ति ज्ञान रूपा भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो द्वेष रखने वाले शत्रु को भी होता है, किन्तु वह ज्ञातव्य व्यक्ति के प्रति उसकी भक्ति का बोधक नहीं होता ।[६] भक्ति

---

१. *सर सी०वी० वैद्य–प्राचीन भारतीयसाहित्य पृ० ११८ पर टिप्पणी*

२. *तुलसी दर्शन मीमांसा पृ० २५१*

३. *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १/१/२*

४. *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १/१/३,६,८*

५. *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १/१/७*

६. *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १/१/४*

के उदय से ज्ञान का क्षय होता है, इसलिए भी भक्ति और ज्ञान की एकता नहीं है ।[१] भक्ति मुख्य है, क्योंकि ज्ञान योगादि इतर साधन उसकी अपेक्षा रखते हैं । भक्ति अंगी है तथा अन्य साधन अंग है ।[२] प्रस्तुत भक्ति सूत्र में श्रद्धा को भी भक्ति का अंग कहा गया है।[३]

नारद भक्तिसूत्र में भी ईश्वर के प्रति परमप्रेम को भक्ति कहा गया है । भक्ति अमृत स्वरूपा है ।[४] भक्ति को प्राप्त कर व्यक्ति सिद्ध अमर और तृप्त हो जाता है तथा इच्छा, शोक, द्वेष, आसक्ति आदि से रहित हो जाता है । नारद ने अपने भक्ति सूत्र में विभिन्न पूर्ववर्ती भक्ताचार्यो के मतानुसार प्रेमाभक्ति के लक्षणों का निरूपण किया है । पाराशर्य व्यास के अनुसार– भगवान की पूजादि में अनुराग होना भक्ति है । गर्गाचार्य के मत में भगवत्कथादि में अनुराग भक्ति है । शाण्डिल्य आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होने को ही भक्ति मानते हैं । परन्तु देवर्षि नारद के अनुसार– सब कार्यों को भगवद् अर्पण करना और उनकी अल्पविस्मृति से भी परम व्याकुल होना ही भक्ति है ।[५]

भक्ति मूकस्वादवत् अर्निवचनीया है । वह गुणकामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर एवं अनुभव रूप है ।[६]

इन भक्ति सूत्रों में भक्ति का दार्शनिक विवेचन अवश्य मिलता है, किन्तु वैष्णव भक्ति का चरम विकास पुराणों में दृष्टिगत होता है । समस्त पुराण वाङ्मय में भी भक्ति सिद्धांत प्रतिपादन के क्षेत्र में श्रीमद्‌भागवत का स्थान बहुत ऊँचा है । वैष्णव भक्ति को चरमोन्नति तक पहुँचाने का श्रेय निर्विवाद रूपेण प्रस्तुत पुराण को ही है । समस्त वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों में इसकी

---

१. *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १/१/५*
२. *वही ,, १/२/१०,१३,१४,२०*
३. *शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १/२/१०,१३,१४,२०*
४. *नारद भक्ति सूत्र २,३,४,५*
५. *नारद भक्ति सूत्र १५–१९*
६. *नारद भक्ति सूत्र ५१,५२,५४*

आप्तता तारस्वर से स्वीकार की गई है । इतना ही नहीं भागवत के भक्ति सिद्धांतों को व्याख्यापित करने के लिए अनेक टीकाओं, वृत्तियों, भाष्यों एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है ।

भागवत में एक स्थल पर वेदविहत कर्मानुरक्तजनों की भगवान के प्रति अनन्य, स्वाभाविक एवं सात्विक प्रवृत्ति को भक्ति कहा गया है । यह अहेतुकी भक्ति मुक्ति से भी गरीयसी है । कर्म संस्कार निर्मित लिंग शरीर को अनायास भष्म कर देती है । जैसे जठराग्नि खाए हुए अन्न को पचा देती है।[१] भक्ति निरूपण करते हुए भागवतकार स्पष्टतः कहते हैं कि भगवान में अनन्य एवं निष्काम प्रेम होना तथा समुद्र की ओर गंगा के अखण्ड प्रवाह की भाँति तद्गुण श्रवणादि के मनोगति का तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से उनके प्रति हो जाना भक्ति है ।[२]

भागवत में सर्वत्र भक्ति माहात्म्य वर्णित है । उसका व्यावहारिक उद्देश्य ही भगवद्भक्ति को प्रकाशित करना है । यहाँ भक्ति को मोक्ष से श्रेष्ठ एवं स्पृहय माना गया है ।[३] भगवद्भक्ति अमोघ है ।[४] इससे अमरत्व की प्राप्ति होती है ।[५] सदा सर्वत्र सर्ववस्तुओं में भगवद्दर्शन करना एकान्तभक्ति का स्वरूप है ।[६] रागद्वेष मुक्त होकर सभी प्राणियों में सर्वभूतात्मा भगवान का अनुभव करने पर यह भक्ति प्राप्त होती है ।[७]

---

१. *भागवत ३/२५/३२–३३*

२. *वही – ३–२९/११–१२*

३. *वही – ३/२५/३४,६/९/४८, ६/११/२५, १०/१६/३७, ११/१४/१४, ११/२०/३४*

४. *अमोघा भगवद्भक्तितर्नेतरेतिमतिर्मम – भागवत ८/१६/२१*

५. *मयि भक्तिर्हिभूतानाममृतत्वाय कल्पते–भागवत १०/८२/४५*

६. *भागवत ७/७/५५*

७. *भागवत ३/२९/२०–३४*

भागवतकार की दृष्टि में भक्ति की वरीयता एवं उत्कृष्टता —

समस्त साधनापथों में भक्तिपथ उत्तम सहज एवं अमाघ है । श्रीमद्भागवत्, भक्ति सूत्रों तथा पान्चरात्रादि ग्रन्थों में ज्ञान, वैराग्य एवं कर्म की अपेक्षा भक्ति का उत्कृष्टत्व तारस्वर में उद्घोषित हुआ है । "सातु कर्म–ज्ञान 'वैराग्येभ्योऽत्याधिकतरा' कहकर नारद ने भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[१] श्रेष्ठत्व निरूपणार्थ सर्वत्र उसकी महिमा का भूरि–भूरि प्रतिपादन एवं गायन हुआ है । भागवतपुराण ने ही सर्वप्रथम भक्ति को परमपुरूषार्थ एवं साध्य रूप में उद्घोषित किया।"[२]

वह उसी धर्म, ज्ञान अथवा साधना को श्रेष्ठ मानता है, जिससे भगवान श्रीकृष्ण में निष्काम एवं निश्चल भक्ति हो । यह भक्ति आनन्दस्वरूप भगवान की प्राप्ति कराने तथा कर्मबन्धनों को क्षीण करने वाली है ।[३] श्रीमद्भगवद्गीता एवं भागवत की मान्यतानुसार अनन्य भक्ति से ही भगवद्दर्शन सम्भव है, भक्ति व्यतिरिक्त वेद, तप, दान तथा यज्ञादि से भगवत्प्राप्ति असम्भव है।[४]

जो परमपद योगादि साधनों से सहजलभ्य नहीं है, वही भक्ति द्वारा सुलभ हो जाता है ।[५] भगवत्प्रसादनार्थ भक्ति ही अलं है । तद विरहित तप, दान, व्रत, यज्ञ, द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, बहुज्ञत्वादि विडम्बना मात्र है ।"[६] भगवन्नमहिमा का यथार्थ बोध भक्तिसे होता है, ज्ञान वैराग्यादि

---

१. *नारद भक्ति सूत्र २५,८१–भक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग लहरी–१ श्लोक–६*

२. *भागवत ३/२९/१४, ७/७/५५*

३. *भागवत १/२/६, १/२/२२, २/२/३३–४*

४. *श्रीमदभगवद्गीता–११/५३/५४, भागवत–१/७/४ ३/२५/१९, ४/२४/५५,*
१०/१४/४–५, ११/१४/२०–२१

५. *भागवत १०/१४/५*

६. *भागवत ७/७/५१–५२, ७/९/९, १०/२३/३९*

साधनों से नहीं ।[1] भागवतकार ने दान, व्रत, जप–तप, होम स्वाध्यायादि को कृष्ण भक्ति प्राप्ति का साधन माना है । साध्य तो मात्र भक्ति ही है ।[2] भक्ति जीव के शोक–मोह भयादि मायाजन्म अनर्थो को नष्ट कर देती है ।[3] अकिंचना भक्ति करने वालों के हृदय में धर्मज्ञानादि सद्‌गुणों सहित समस्त देवता निवास करते है ।[4] यह भक्ति चाण्डाल पर्यन्त को पवित्र कर देती है।[5] किन्तु भक्ति विरहित मनुष्य के चित्त को तपस्यायुक्त विद्या तथा धर्म भी शुद्ध करने में समर्थ नहीं है ।[6] इसलिए अविद्याजित, आत्मपरायण, ज्ञानीजन भी भगवान की अहेतुकी भक्ति करते हैं ।[7] भगवान ने तारस्वर में घोषणा की है कि संसार में भक्ति पथ ही कल्याणरूप भक्ति रहित एवं सर्वश्रेष्ठ है, इसके सदृश शिवकारक अन्य कोई भी मार्ग नहीं है ।

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्था: क्षेमोऽकुतो भय : ।
न युज्यमानयाभक्त्या भगवत्यरिवलात्मनि,
सदृशोऽस्ति शिव: पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ।।"[8]

---

१. भागवत १०/१४/२९

२. दानव्रततपो होम स्वाध्यायसंयमे:।
श्रेयोभिर्तिविधैश्चान्ये: कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।
भागवत–१०/४७/२४

३. वही १/७/६–७

४. वही ५/१८/१२

५. भक्ति: पुनाति मन्निष्णां श्वपाकानामपि सम्भवात् । भाग–११/१४/२१

६. वही ११/१४/२२ तथा ६/३/३२

७. वही १/७/१०

८. भागवत ३/२५/१९

भागवतकार ने ज्ञान वैराग्यादि साधनों की तुलना में भक्ति के श्रेष्ठत्व का सशक्त प्रतिपादन किया है । उनके मत में जय–तप–ज्ञान, दान शास्त्राध्ययन यम–नियम व्रत योगादि का एकमात्र सुन्दरतम फल भक्ति है ।

इदं हि पुसस्तपस: श्रतुस्य व स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदन्तयो : ।

अविच्युतोऽर्थो कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोक गुणानुवर्णनम् ।।[1]

त एव नियमासाक्षात् एवं च यमोत्तमा ।

तपोदानं व्रतंयज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षज : ।।[2]

भक्ति रहित जप योगादि को वे व्यर्थ मानते हैं । भक्ति से भगवान सहज रूप में शीघ्र प्रसन्न एवं प्राप्त हो जाते है ।

नायं सुखायो भगवान देहिनां गोपिकासुत: ।

ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतां हि ।[3]

भागवत में श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं – भक्त्याहं एकया ग्राहय: शुद्धयात्मा प्रिय: सताम् ।[4]

भक्ति के उत्कृष्टत्व का ख्यापन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि जो लोग ज्ञानाभिमान से अपने को मुक्त मानकर भक्ति का अनादर करते है, उनका भी कृच्छतयोपलब्ध उच्चपद से अध:पात हो जाता हैं :–

---

१. *भागवत १/५/२२*

२. *वही ८/१६/६२*

३. *वही १०/९/२१*

४. *वही ११/१४/२१*

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिनस्त्पययस्तभावादविशुद्धबुद्धया ।

आरूह्य कृच्छेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मेदङ् घ्रयः ।[१]

किन्तु दूसरी ओर भगवद्रक्षित – विजितविघ्न भक्तजन स्वसाधन मार्ग से च्युत न होकर निर्भय विचरण करते है –

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यत्ति मार्गात्वयिवद्ध सौहृदा ।

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपभूर्धसु प्रभो ।[२]

उनके मत में जन्मादि का एकमात्र फल हरिभक्ति ही है ।

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वच : ।

नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यतेहरिरीश्वर : ।।[३]

इतना ही नहीं शरीर का अंग–प्रत्यंग हरिभक्ति करने पर ही सार्थक है, अन्यथा निंद्य एवं निरर्थक है ।[४] भक्तिहीन मनुष्य से वे कूकरसूकर को श्रेष्ठ घोषित करते हैं –

श्व विड्वराहोष्ट्रखरै : संस्तुतः पुरूषः पशु : ।

न यत्कर्ष पथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ।।[५]

वे भक्ति को परमलाभ मानते हैं – लाभो मद्भक्तिरूत्तमा ।[६] योग तपस्यादि से

---

१. *भागवत १०/२/३२*

२. *वही १०/२/३३*

३. *वही ४/३१/९*

४. *वही २/३/२०–२४*

५. *वही २/३/१९*

६. *वही ११/१९/४०*

महर्तपजनादि लोकों की प्राप्ति होती है।[१] भक्ति शोक–मोह तथा भवविनाशकारिणी है ।[२] भक्ति वैमुख्य भवाब्धि पतन एवं अनेकानेक रूज–शोक का हेतु है ।[३] भगवत्प्रियता का आधार भक्ति है । भक्ति हीन ब्रह्मा भी उन्हें प्रिय नहीं है, किन्तु भक्तिमान अति निम्न प्राणी भी उन्हें प्राणवत प्रिय हैं ।[४]

भक्ति को भागवत पुराण में इतना अधिक महत्व दिया गया है कि इसे मुक्ति से भी अधिक महत्व दिया गया है कि इसे मुक्ति से भी अधिक महान ठहराया गया है, और इस भक्ति के के लिए भक्त सब कुछ त्याग देता है । भागवत के ग्यारहवे स्कन्ध, चौदहवें अध्याय में भक्ति का महत्व स्थापित करने वाले अनेक श्लोक कहे गए हैं, यहाँ भक्तियोग के सुप्रसिद्ध प्रचारक नारद को भगवान सूचित करते हैं कि जिसने अपने चित्त को मुझमें लगा दिया, वह मुझे छोड़कर न ब्रह्मपद, न इन्द्रपद, न सार्वभौम राज्य न समस्त भूमण्डल का आधिपत्य, न योग की सिद्धियाँ और न मोक्ष ही कामना करता है ।[५] ऐसे भक्त को भगवान कितना महत्व देते हैं, यह आगे के कथन से सिद्ध हो जाता है –

जो निरपेक्ष शान्त, निर्वेर तथा समदर्शी मुनि है, उसके पीछे–पीछे तो मैं इस विचार से कि इसकी चरण धूलि से मैं पवित्र हो जाऊँगा ।[६]

---

१. *भागवत ११/११/२५, ११/२४/१४*

२. *वही १/७/७, ३/७/१४, ३/७/१९*

३. *वही ११/५/३*

४. *वही ११/१४/१५*

५. *वही ११/१४/१४*

६. *वही ११/१४/१६*

भागवतकार ने भागवत धर्म को सर्वोपरि सिद्ध करने के अभिप्राय से और भी कहा है –

सिद्ध पुरूषों को भी तुरन्त आत्मलाभ करने के लिए जो उपाय भगवान ने बताए हैं, उन्हीं को भागवत धर्म समझना चाहिए । भागवत धर्म का आश्रय लेने पर मनुष्य कभी प्रमाद में नहीं फँसता । उस पर कभी विघ्न का आक्रमण नहीं होता । वह इस संसार में आँख मूद कर दौड़ने पर भी न तो कहीं फिसलता है और न गिरता ही है । जिस प्रकार बढ़ाहुआ अग्नि पुंज हवन को जलाकर भष्म कर देता है, उसी प्रकार हे उद्धव ! मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पाप–राशि को पूर्णतया ध्वस्त कर देती है ।[१] अन्त में यहाँ तक घोषित कर दिया जाता है कि मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार न तो योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है ।[२] भक्ति का द्वार यहाँ चाण्डाल तक के लिए खोल दिया जाता है, और वे भी अपने जातीय दोषों से मुक्त होकर भक्ति द्वारा पवित्र हो जाते हैं ।[३] किन्तु भक्ति विहीन पुरूषों को सत्य एवं दया से युक्त धर्म अथवा तप से युक्त विघ्न भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती ।[४]

पौराणिक युग तक पूर्ववर्ती साधनाओं को किस प्रकार भक्ति की ओर उन्मुख किया गया है, इसका एक और महत्वपूर्ण उल्लेख करके हम पुराणों के साधन पक्ष पर आएँगे । पाँचरात्र युग के पहले से ही भागवतों पर तांत्रिक प्रभाव पड़ने लगे थे । पुराणों ने (विशेषतया कुछ वैष्णव पुराणों ने) इसीलिए पाँचरात्र आगमों की उपेक्षा की थी, किन्तु केवल इनकी उपेक्षा से ही

---

१. *भागवत ११/१४/१९*

२. *वही ११/१४/२०*

३. *वही ११/१४/२१*

४. *वही ११/१४/२२*

सार्वभौमिक उपेक्षा सम्भव नहीं थी । अतः अनेक पुराणकारों ने, जिन्हे धर्म प्रचार पद्धति की नसों का पूर्ण बोध था, मनोवैज्ञानिक शब्दावली में 'रेचन–पद्धति' का अनुसरण किया – अर्थात उन्हीं भावनाओं को दमित न करके इच्छित दिशा की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया, किन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य था औपनिषदिक ज्ञानवाद एवं तपोविद्या के समन्वय के फलस्वरूप उत्पन्न योग भाग को भक्ति मूलक बनाना या अधिक उपयुक्त शब्दों में, यों कह लें कि प्राचीन तपवाद के नवोदित समर्थकों एवं प्रचारकों से लोगों को बचाना । पुराण युग के पहले ही विभिन्न शारीरिक प्रक्रियाओं एवं नाना प्रकार के ध्यानों का इतना विस्तृत एवं मोहक जाल बिछाया जा चुका था कि सर्वसाधारण का इस ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक था । योग दर्शन सम्भवतः समस्या को इतना जटिल न बना सका होता और इसके अष्टांग (यम, नियम, आसन, प्राणयाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान तथा समाधि) को सरलतापूर्वक भक्ति पक्ष में ले लिया गया होता, किन्तु इसमें तन्त्र के सम्मिश्रण ने नेती, धोती, वरती आदि षड़कर्म तथा नाड़ी शोधन आदि का जो कर्मजाल फैलाया, उससे स्थिति पूर्णतया अभक्ति परक होती जा रही थी । सर्वसाधारण पर तो इसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ ही रहा था, अधिकांश भागवत साहित्य भी इससे प्रभावित होता जारहा था, अतः केवल उपेक्षा ही पर्याप्त न थी । अस्तु, भागवतकार ने योग की शारीरिक प्रक्रियाओं एवं ध्यान को भी एक नया मोड़ दिया । यहाँ इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया कि व्याख्यात्मक शब्दावली लगभग वही हो, हाँ विधि का प्राण पूर्णतया भक्ति परक हो, साथ ही यौगिक जटिलता को पूर्णतया सरलता की ओर मोड़ दिया जाए । भागवतकार ने किस प्रकार इस योग को भक्ति की ओर उन्मुख किया है, इसका विवरण हमें निम्न उद्धरणों से प्राप्त हो जाएगा । भगवान उद्धव से कहते हैं –

सुखपूर्वक सम आसन में शरीर को सीधा रखकर बैठे, हाथों को गोद में रखे तथा दृष्टि को अग्रभाग में स्थिर करें । फिर क्रम से पूरक, कुम्भक तथा रेचक अथवा विलोम क्रम से (रेचक,

कुम्भक तथा पूरक) द्वारा – नाड़ी की शुद्धि करें और जितेन्द्रिय होकर शनैः–शनैः प्राणायाम का अभ्यास करें ।

हृदय में निहित कमलनाल– तुल्य ओंकार को प्राण के द्वारा ऊपर की ओर ले जाकर उसमें घण्टानाद सदृश स्वर स्थिर करें । इसप्रकार नित्य तीन समय दस बार ओंकार सहित ही प्राणायाम का अभ्यास करें, फिर अन्तः करण में स्थित ऊपर की ओर नाल और नीचे को मुखवाले हृदय कमल को ऊपर की ओर मुख वाला खिला हुआ तथा आठ पंखुड़ियों तथा बीच की कली के सहित चिन्तन कर उसी की कली में क्रमशः सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की भावना को और अग्नि के मध्य में जिसका ध्यान अत्यंत मंगलमय है, ऐसे मेरे इस रूप का ध्यान करें, जो अनुरूप अंगों के सुशोभित अति शान्त, सुन्दर है, अति मनोहर मुस्कान वाला है, जिसके समान श्रवण, पुट में मकराकार कुण्डल चमचमा रहे हैं, जो मेघ के समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी और श्री वत्स तथा लक्ष्मी का निवास स्थान है, जो शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा वनमाला से विभूषित है, जिसके चरण कमल नूपूरों से सुशोभित है, जो कौस्तुक मणि की आभा से सम्पन्न है, तथा जो सब ओर से कान्तिमय किरीट, कटक, करधनी और भुजबन्द आदि आभूषणों से युक्त है, सर्वांग सुन्दर और हृदयहारी है, एवं जिसके मुख तथा नेत्र प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं, उस मेरे सुकुमार शरीर का उसके सब अंगों में चित्त लगाते हुए ध्यान करें ।[1]

भगवान की मनोहर झाँकी के ध्यान का विवरण भागवत के तृतीय स्कन्ध के २८वें अध्याय में भी दिया गया है । ऐसे समस्त विवरण भगवान की सगुण कल्पना को बल प्रदान करते हैं, और यद्यपि भावहीन मूर्तिपूजा को भागवतकार ने ३/२९/२१ में स्वांग कहा है तथापि सगुण ब्रह्म के निरूपण में जितना प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रयास किया गया है, उससे मूर्तिपूजा को प्रश्रय मिला था ।

---

१. *भागवत पुराण–११/१४/३८–४१*

प्राचीन युग के अन्तिम चरण में मन्दिरों एवं मूर्तियों का जो बाहुल्य देखने को मिलता है, उसका एक कारण पुराणों की सगुण–भक्ति का प्रचार भी है ।

भागवतकार ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि पूर्वोक्त तीव्र ध्यान योग के द्वारा चित्त का संयम करने वाले योगी के चित्त का द्रव्य, त्रान तथा कर्म सम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।

पन्द्रहवें अध्याय में पुनः सिद्धियों के प्रकरण में इसी प्रकार का प्रयोग किया गया है और वहाँ अन्त में भागवतकार के भगवान ही स्वंय कहते है कि समस्त सिद्धियों तथा ब्रह्मवेंत्ताओं के योग, सांख्य तथा धर्म आदि साधनों का एकमात्र हेतु स्वामी तथा प्रभु मैं ही हूँ ।[1] इसके पूर्व में इसी स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में भगवान ने उद्धव को यह सूचित करने के बाद कि किस प्रकार उन्होंने सनकादि को योग का उपदेश दिया था । अन्त में प्रसंगतः यह कहा गया है, मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋतु, तेजा श्री, कीर्ति तथा दम–हन सबकी परम गति हूँ ।[2] इतना ही नहीं सभी युगों में हर सम्प्रदाय या सिद्धांत वाले भगवान नारायण, वासुदेव अथवा कृष्ण की ही उपासना विविध नाम, रूपों एवं पद्धतियों से करते रहे, इस मत का प्रचार भी भागवतकार ने दृढ़ता पूर्वक करते हुए सूचित किया है कि सत्य युग में समदर्शी लोग भगवान नारायण की सम, दम तथा तपस्या से उपासना करते हैं और उस समय उनका हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, ईश्वर, पुरूष, अव्यक्त तथा परमात्मा आदि नामों से संकीर्तन किया जाता है । त्रेतायुग में भगवान रक्तवर्ण, चर्तुभुज, वेदमीय रूप, यज्ञपात्रों से सुशोभित होते हैं, उस समय धर्मिष्ठ तथा ब्रह्मचारी पुरूष कर्मकाण्ड विधि से पूजन करते है और तब वे विष्ण, वर्त, यज्ञ ––––– आदि नामों से पुकारे जाते हैं । द्वापर में भगवान श्याम वर्ण, पीताम्बरधारी, अपने चक्रादि आयुधों से युक्त तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिन्हों व कौस्तु आदि वाह्य चिन्हों से सुशोभित होते हैं । उस परमपुरूष का

---

१. *भागवत पुराण ११/१५/३५*

२. *वही ११/१३/२९*

जिज्ञासु लोग वैदिक तांत्रिक विधि से अर्चन करते हैं तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरूद्ध एवं षडेश्चर्य युक्त आपको प्रणाम है, ऋषि श्रेष्ठ, नारायण महापुरूषवर, विश्वेश्वर, विश्वरूप एवं सर्वभूतात्मा आपको बार–बार प्रणाम है । इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं ।

अतः उपर्युक्त विवरण से हमे यह ज्ञात होता है कि भागवत में लगभग सभी प्रचलित धर्म साधनाओं को जिनसे सर्वसाधारण प्रभावित होता जा रहा था, भक्ति की ओर मोड़ने की सजग चेष्टा की गई है, किन्तु पुराणों में भी भागवत पुराण की भक्ति पूर्व प्रचलित भक्ति से बहुत कुछ भिन्न है । यह भिन्नता हम बिना श्रम के ही भागवत पुराण में पा सकते हैं, और भक्ति के साथ रसात्मकता का समावेश जिस पर वैष्णव सम्प्रदायों की भव्य भाव भूमि निर्मित होती है ।

भक्ति के प्रकार –

भागवतकार के मतानुसार एक ही भक्ति के भाव एवं गुणभेद से विविध रूप हो जाते हैं।[१] भक्ताचार्य नारद का भी ऐसा ही मत है । वे कहते है कि प्रेमरूपा भक्ति एकधा होकर भी एकदशधा हो जाती है ।[२] भागवत में भक्ति के ऐकान्तिक, द्विधा, चतुर्ध्या, पंचविधा, षड्विधा, नवधा आदि भेदापभेदों का निरूपण हुआ है । "वापदेवकृत" मुक्ताफल में भगवत के सन्दर्भोल्लेख सहित भक्ति को उन्नीस प्रकार से वर्गीकृत किया गया है ।[३] श्री रूप

---

१. *भागवत ३/२९/७*

२. *नारद भक्ति सूत्र – सूत्र ८२*

३. *तुलसीदर्शन मीमांसा पृ० २७३–२७५*

गोस्वामी ने 'हरिभक्ति भगवत्वृत सिंधु' में भक्ति के बारह भेदों का सविस्तार वर्णन किया है । शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के टीकाकार श्री नारायण तीर्थ तट्टी का भक्ति चन्द्रिका में भक्ति के सत्रह भेदों का विवेचन किया गया है ।

१— ऐकान्तिक भक्ति —

भक्ता एकान्तिनों मुख्या[1] कहकर नारद भक्ति सूत्र में ऐकान्तिक भक्ति की मुख्यता या श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है । इसी भक्ति का अपर अभिधान अनन्य भक्ति है । भगवद्व्यतिरिक्त अन्याश्रयों का सर्वथा त्याग अनन्य भक्ति है ।[2] इस भक्ति के अनुसार भक्त के मन में भगवान के अतिरिक्त दूसरे के होने की कल्पना ही नहीं होती । उसके लिए सम्पूर्ण चराचरात्मक विश्व ही भगवद्रूप है ।[3] श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक स्थलों पर ऐकान्तिक भक्ति का उल्लेख हुआ है ।[4] भागवतमहापुराण में एकान्तभक्ति को ही जीवन का परम स्वार्थ मानते हुए सदा सर्वत्र समस्त वस्तुओं में भवद्दर्शन करना उसका स्वरूप बतलाया गया है ।

एतवानेव लोकेऽस्मनि पुंस: स्वार्थ: पर: स्मृत : ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ।।[5]

---

१. *नारद भक्ति सूत्र— सूत्र संख्या* ६७

२. *वही सूत्र संख्या* १०

३. *भागवत* ५/५/२६

४. *श्रीमद्भगवद्गीता* — ७/१७, ८/१४, ९/२२—२३, १८/६६

५. *भागवत* ७/७/५५

यह भक्ति अत्यंत दुर्लभा है । किसी भी अन्य साधन की अपेक्षा भगवत्प्रसादन इससे सुलभ है ।[1] इसी भक्ति से गोगोपीपमलार्जनदि श्रीकृष्ण को प्राप्त हो गए ।[2]

२— द्विधा भक्ति —

ब्रह्म के द्विविध — निर्गुण एवं सगुण रूपों के आधार पर भक्ति के द्विविध रूप हो गए हैं— सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति निर्गुण भक्ति अद्वैतवादी आत्मज्ञानी की निराकार ब्रह्म विषयक भक्ति है तथा सगुणाभक्ति सविशेष ब्रह्म के नाम—रूप—लीला—धाम से सम्बन्धित है ।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के विशुद्ध रूप को प्रकट करने के लिए निर्गुण भक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है, इस भक्ति के द्वारा भक्त त्रिगुणातीत हो जाता है । भगवान में अहैतुकी एवं ऐकान्तिकी प्रीति होना, भगवद्गुण श्रवण मात्र से अविच्छिन्नगत्या मन का भगवदुन्मुख हो जाना इस भक्ति का लक्षण है । भागवत में इस भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।[3]

सगुणभक्ति तो भागवत का प्रतिपाद्य ही है । सगुण ब्रह्मा, कृष्ण के नाम, रूप, लीला धाम से उसका आदिमध्यावसान मंडित है । भगवत्कार समन्वयवादी है, उनके आराध्य देव निर्गुण और सगुण दोनों हैं उन्होंने उनके लिए निर्गुण और सगुण विशेषणों का युगवत प्रयोग भी किया है ।[4] भागवत के भक्त आजन्म, जन्मान्तर अपने आराध्यदेव की सगुण भक्ति ही चाहते हैं।

कर्ममिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।

मंगलाचरितैदीनैर्रति नः कृष्ण ईश्वरे ।।[5]

---

१. भागवत ७/७/५५

२. वही ११/१२/८

३. वही ३/२९/११—१४

४. वही ३/३३/३६, ४/२०/७, ६/९/३४, ७/९/४८, १०/२९/१४, १०/४२/४०

५. वही १०/४७/६७

भागवत में भक्ति के लिए भेद एवं अभेद जैसे शब्द तो कहीं प्रयुक्त नहीं हुए किन्तु भेदभक्ति की अवधारणा स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई है । भगवच्चरण सेवा में प्रीति रखने वाले भक्त भगवान के साथ एकात्मभाव की स्पृघ नहीं करते । वे निरन्तर उनकी सगुण लीलाओं का ज्ञान एवं दिव्य रूपों की झाँकी करते रहते हैं ।

नैकात्मा में स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा ।

येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते ममपौरूषधि ।।[1]

साधन एवं साध्य की दृष्टि से भी भक्ति के दो प्रकार है :—

१— साधनरूपा २— साध्यरूपा

गौणी और मुख्या भी क्रमशः इन्हीं के उपर अभिधान हैं । गौणी भक्ति के पुनः दो भेद हो जाते हैं :—

क— वैधी अथवा विहिता तथा रागानुगा अथवा अविहिता ।

वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनभिधा ।।[2]

वैधी भक्ति—

शास्त्रानुसार वाहयविधियों, आचारों तथा विहित साधनों द्वारा निष्पन्न भक्ति वैधी या विहिता है । इसे मर्यादा भक्ति भी कहते हैं ।

शास्त्रोक्तया प्रबलतया तत्तन्मर्यादयान्विता ।

वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते ।।[3]

---

१. *भागवत ३/२५/३४, ३/२५/३५—३७*

२. *हरिभक्ति रसामृत सिंध १/२/३*

३. *वही १/२/५९—६०*

श्रीमद्भागवद् में इस भक्ति का विशद विवेचन हुआ है[१] तथा इसे रागानुगा भक्ति का साधन कहा गया है ।

भक्त्या संजातयभक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।।[२]

इस भक्ति के द्वारा साधक का मन भगवन्दुन्मुख हो जाता है, और उसे प्रेमाभक्ति की प्राप्ति हो जाती है । भागवत में क्रियायोग[३] तथा भागवतधर्म निरूपण[४] प्रसंगों में वैधी भक्ति का ही विस्तृत वर्णन किया गया है । वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित तीन विधियों से वैधी भक्ति की जाती है ।

वैदिकास्तान्त्रिको मिश्र इति में त्रिविधो भख : ।

त्रयाणानामीटिसतैमैव विधिना मां समर्चयते ।।[५]

सर्व प्रथम् भक्त को अपने अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधि से पवित्र होकर शैली, दारूमयी, लौही लेप्या, लेख्या, सैकती, मनोमयी तथा मणिमयी अष्टविधभगवत्प्रतिमाओं, सुदर्शनचक्रादि अष्टायुधों, नन्दसुनन्दादि अष्टपार्षदों, इन्द्रादि दिग्पालों, श्रीवत्सादि चिह्नो तथा दुर्गा, विनायक, व्यास और विश्वक्सेन की विधिवत् पूजा करनी चाहिए ।[६]

---

१. भाग ११/३/२१–३३, ११/२७–२९

२. भाग ११/३/३१

३. वही ११/२७/६–५३

४. वही ११/२९/८–२९

५. भागवत ११/२७/७

६. भागवत ११/२७, ८/२९

तदुपरान्त भगवान के गुण नाम लीला, स्तुतिगान तथा उत्सवादि का आयोजन भी करना चाहिए ।[1]

रागानुगा भक्ति –

इष्ट विषयक स्वाभाविक प्रेममयी तृष्णा राग है । इस राग के द्वारा स्वारसिकी रति से प्रेरित होकर परमाविष्टता के साथ इष्ट में जो भक्ति की जाती है, उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं । इसमें इष्ट सेवा के लिए भक्त के चित्त में तृष्णा या लोभ जागृत हो जाता है और वह प्रतिक्षण आवेश में रहता हुआ इष्टदेव में तन्मय हो जाता है । भक्ति शास्त्र में तन्मयता को इस भक्ति का लक्षण कहा गया है ।

इष्टे स्वरसकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।

तन्मयी या भवेद् भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ।।[2]

काम, क्रोध, भयादि रागात्मक वृत्तियों में से किसी के द्वारा भी की गई भक्ति रागानुगा भक्ति होती है ।

कामाद् द्वेषाद् भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरेमनः ।

आवेश्य तदधं हित्वा वह्वस्तद् गतिं गता : ।।[3]

इस भक्ति के अनुसार किसी प्रकार से भी कृष्ण में तन्मयता होनी चाहिए ।

क– केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवशयेत ।।[4]

---

१. *भागवत ११/११/३४–४७*

२. *हरिभक्ति रसामृतसिंधु १/२/६२*

३. *भागवत – ७/१/२९*

४. *वही ७/१/३१*

ख– कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च

नित्य हरौ विदधतौ यान्ति तन्मयतां हि ते ।।[१]

इसके भी दो उपभेद है – कामरूपा और सम्बन्धरूपा ।।

सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेत भवेद् द्रिधा ।।[२]

कामभावना से प्रेरित होकर इष्ट का सामीप्य प्राप्त करने की उत्कट भावना कामरूपा भक्ति है ।[३] भीमद्भागवद की भक्ति इसी रीति की है ।[४] परन्तु श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का निरन्तर बोध रहना उनकी इस भक्ति की विशिष्टता है ।

क– व्यक्तं भवान् ब्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरूषः सुरलोक गोप्ता ।

तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो तपस्तेनषुच शिरस्सु च किंकरीणीम् ।।[५]

ख– न खलु गोपिकानन्दनो भवान खिलदेहिनामन्तरात्मृक ।

विरवनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान सात्वतां कुले ।।[६]

कामातिरिक्त अन्य प्रकार के रागात्मक सम्बन्धो से निष्पन्न भक्ति सम्बन्धरूपा है ।[७] भागवत में वसुदेव देवकी, नन्द–यशोदा तथा "मानस" में दशरथ–कौशल्या आदि की भक्ति इसी कोटि की है ।

---

१. *भागवत १०/२९/१५*

२. *हरिभक्ति रसामृतसिंधु १/२/६२*

३. *हरिभक्ति रसामृतसिंधु १/२/६९–७०*

४. *भागवत ७/१/३०, १०/२२/१–६, २४, १०/२९*

५. *वही १०/२९/४१*

६. *वही १०/३१/४*

७. *हरिभक्ति रसामृतसिंधु १/२/७२,७३*

रागानुगा भक्ति को वैधी भक्ति से श्रेष्ठ मानते हुए भक्त कवियों ने इसे विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान की है । भागवत में भी अन्यत्र प्रयुक्त सद्भक्ति पराभक्ति आदि शब्द इसी के अर्थ में है।[1] भागवतकार ने इस भक्ति को ही साध्य माना है । इनके मत में अभ्यन्त मल (अहंकार) जो ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी रह जाता है, का समूल नाश प्रेमाभक्ति के द्वारा ही होता हैं। अन्य उपायों से इसका छूटना प्राय: असम्भव है ।[2]

चतुर्विधा भक्ति —

स्वभाव और गुणों के आधार पर भागवतकार ने भक्ति को चार प्रकार से विभक्त किया है — तामसी, राजसी, सात्विकी तथा निर्गुणा । क्रोध, हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य भाव रखकर की गई भक्ति तामसी है । भागवत में शिशुपाल दन्तवक्त्र आदि की भक्ति इसी कोटि की है । भोग ऐश्वर्य एवं यश की कामना से प्रतिमादि में भेद–भाव से की गई भक्ति "राजसी" है। जरासंघ के करागृह से मुक्त राजागण, ध्रुव तथा सुग्रीवादि की भक्ति इसी प्रकार की है । पापक्षालन अथवा शास्त्राज्ञापालनार्थ कर्तव्य बुद्धि से की गई भक्ति सात्विकी है । त्रिगुणों से ऊपर उठकर निष्काम भावना से भगवान में की गई भक्ति निगुणा है ।[3]

पञ्चविधा भक्ति —

भागवतकार के मतानुसार जीव को जिस किसी उपाय से भी अपना मन भगवान श्रीकृष्ण में तन्मय कर देना चाहिए । काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या भयादि मनोविकार जो सदा उसे आबद्ध किए रहते हैं, उनसे न मुक्त होने की दशा में वह ईश्वर भक्ति कैसे करें । इसके उपाय स्वरूप भागवतकार तथा भक्ति सूत्रकार नारद इन मनोविकारों को भगवान की ओर मोड़ देने के लिए कहते हैं —

---

१. *भागवत — ११/११/४७, १०/८/४१,, १०/३३/४०, ११/२९/२८,*

२. *भागवत — ४/२२/२०*

३. *भागवत — ३/२९/८–१४*

क— तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।

स्नेहात कायेन वा युन्जयात् कथान्चिन्नेक्षते पृथक ।।[1]

ख— तदार्पिताखिलाचार: सन् कामक्रोधभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।।[2]

भगवान में मन लगाने के लिए भागवतकार ने जो पाँच उपाय बताए हैं । वे इस प्रकार है— १— सुदृढ़ वैर २— सुदृढ़ राग ३— भय ४— स्नेह और ५— काम । भागवत में देवर्षि नारद ने अपना निश्चित मत व्यक्त करते हुए तन्मयता प्राप्ति के लिए वैरानुबन्ध को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है । रावण, शिशुपाल एवं दन्तवक्त्र आदि वैरभाव से तथा मारीच एवं कंसादि भीतिभाव से लीलामनुज भगवान श्रीराम और कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करते हुए उन्हीं को प्राप्त हो गए।

यथावैरानुबन्धन मर्त्यस्तमयताभियात् ।

न तथा भक्तियोगेन इति में निश्चला मति : ।

एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे

वैरेण पूतयाप्यमानस्तमापुरनुचिन्त्या ।।[3]

इसी प्रकार सुदृढ़राग से नारदीय मुनि जनो ने, स्नेहभाव से युधिष्ठिरादि पाण्डवों ने तथा काम भाव से गोपियों ने भगवान का निरन्तर चिन्तन कर तद्रूपता को प्राप्त कर लिया था ।[4] भागवतकार राक्षसों को भी भक्त मानते हैं, क्योंकि उनका चित्त वैरभाव से निरन्तर भगवान में लगा रहता था।

---

१. *भागवत ७/१/२५ और भी वही १०/२९/५*

२. *नारद भक्ति सूत्र ६५*

३. *भागवत ७/१/२६,२८ और भी वही भाग—२/२/१९, १०/४४/३९, १०/७४/४६*

४. *भागवत — ७/१/३०, १०/२३/३२*

मन्ये सुरान भागवतां स्त्रयधीशे ।

संरम्भमार्गाभिनिष्ट चिन्तन ।।[1]

षड्विधा (षडंगा) भक्ति –

भागवत में भवान नृसिंह की स्तुति करते हुए भक्त प्रहलाद ने उनकी सेवा के लिए जिन छः अंगों का कथन किया है, वही षडगा भक्ति है ।

ततेऽर्हतम् नमः स्तुति कर्मपूजाः कर्मस्मृतति श्चरणयो : श्रवणकथायाम् ।

संसेवया त्वयि विनेति षडंगया किं भक्ति जनः परमहंस गर्तो लभेत ।।[2]

भागवत के विभिन्न स्थलों पर सेवा के इन छः अंगों की चर्चा हुई है । इस भक्ति के छः अंग इस प्रकार हैं – नमस्कार[3], स्तुति[4], अखिल कर्म समर्पण[5], पूजा[6], ध्यान[7] तथा लीला–कथा–श्रवण ।[8] इस भक्ति के बिना प्रेमा भक्ति की प्राप्ति असम्भव बतलाई गई है ।

---

१. *भागवत ३/२/२४*

२. *भागवत ७/९/५०*

३. *भागवत १/१/१–४, २/४/१२–२४*

४. *भागवत ४/२४/, ३३/४३, ८/३/२–३३, १०/२/२६–४०*

५. *भागवत १/९/३२, १०/८५/३७,*

६. *भागवत १०/४८/१४–१६, १०/५३/३३, १०/८६/४१*

७. *भागवत १/६/१७*

८. *भागवत १०/४६/२७–२८, १०/८३/५–१७*

रजोगुण एवं तमोगुण विहीन, सुखाभिव्यंजक, भगवद्विषयक गति को भी भक्ति कहा गया है । तन्मात्राओं के आधार पर होने वाली यही सुखानुभूति षड्विधा भक्ति है ।[1]

स्पर्शजाभक्ति –

भगवान के स्पर्श से भक्त को होने वाली आनन्दानुभूति –

''पादावंकागतौ विष्णोः स्पृशन्छनकैर्मुदा ।[2]

शब्दजाभक्ति –

भगवद्वचन अथवा कथा–श्रवण तथा उनसे वार्तालापोद्रभूत सुखानुभूति–

सिद्धौऽस्म्यनुग्रहीतोऽस्मि भवता करूणात्मन : ।

श्रावितो यच्च में साक्षादनादिनिधिनो हरि : ।।[3]

रूपजाभक्ति – भगवद्दर्शन से प्राप्त सुखानुभूति –

भगवद्दर्शनाह्लाद वाष्प पर्याकुलेक्षण : ।

पुलकाचिन्तांग औत्कष्ठयात् स्वाख्याने नाशकनुनृप ।।[4]

रसजा भक्ति –

भगवान के प्रसाद, उनके उच्छिष्टादि के आस्वाद से की गई आनन्दानुभूति –

त्वयोपभुक्तस्रगान्धवासोऽलंकार चर्चित

उच्छिष्ट भोजिनो दासस्तव मायां जयेमहि ।।[5]

गन्धजा भक्ति –

भगवदर्पित पत्रपुष्प एवं व्यन्जनादि की सुगन्धि से उत्पन्न सुखानुभूति ।[6]

---

१. *तुलसी दर्शन मीमांसा पृ० २८२*
२. *भागवत १०/८६/३०*
३. *वही १२/६/२*
४. *वही १०/३८/३५ और भी १०/४३/२१*
५. *वही १०/६/४६ और १/५/२५, ९/४/१९*
६. *भागवत ९/४/१९, १०/४८/७, ११/६/४६*

समुच्चित विषयजा भक्ति –

अनेक तन्मात्राओं के सम्बन्ध से एक साथ अनुभूत आनन्द[1]

नवधा अथवा नवलक्षणा भक्ति–

नवधाभक्ति वैधी भक्ति के अन्तर्गत है, यह प्रेमा अथवा पराभक्ति की साधना रूपा है । पुराण संहिता में दो प्रकार की नवधा भक्तियों का निरूपण हुआ है । पहले प्रकार की नवधा भक्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम भागवत महापुराण में प्राप्त होता है । तद्नन्तर शिव, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में प्राय: उसका अविकल उल्लेख किया गया है । भागवत में नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है –

श्रवणं कीर्तिनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं संख्यंमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसर्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा
क्रियते भगवत्याद्वा तन्मन्येऽधीत मुक्तम् ।।[2]

साधन को दृष्टि में रखकर तन, मन और वाक्य के प्राधान्य के आधार पर इन नौ लक्षणों के तीन भाग किए जा सकते हैं – श्रवण, पादसेवन, अर्चन और वन्दन – कायिक, स्मरण, संख्या दास्य और आत्मनिवेदन का सम्बन्ध आराधक के भाव से है । इसमें प्रथम वर्ग (श्रवण, कीर्तन और स्मरण) श्रद्धा और विश्वास की वृद्धि में सहायक हैं । द्वितीय वर्ग (पादसेवन अर्चन एवं वन्दन) वैधी भक्ति का विशिष्ट अंग है, तथा तृतीय वर्ग दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन का रागात्मिक वृत्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है ।

---

१. *भागवत १०/४३/१९–२३, १०/६/४५–४६*

२. *भागवत ७/५/२३–२४*

भागवतकार का नवधात्मक विभाजन तार्किक की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है । भक्तों तथा भक्ताचार्यो ने इसकी गरिमा एवं आप्तत: को सादर स्वीकार किया है ।

व्यापक लोकप्रियता भी इसके महत्व को सर्वथा प्रमाणित करती है । भारतीय भक्ति साहित्य में भागवत के इन श्लोको के आर्विभाव से नवधा भक्ति की चर्चा अमर सी हो गई हैं। उक्त नवधा भक्ति का भी मूल स्रोत श्रीमद्‌भागवद ही है ।

भागवत प्रतिपादित नवधा भक्ति का पहला अंग श्रवण है । भगवान के नाम, चरित्र और गुणों को सुनना श्रवण भक्ति है । भागवत साहित्य में पग–पग पर भगवान के गुण, नाम, रूप, लीला–धाम का माहात्म्य गायन हुआ है ।[1] भागवत में भक्ति के साधनों में 'श्रवण' को प्राथमिकता दी गई है । उनके मतानुसार हरिकथा श्रवण कलमलधरी[2] सद्‌गति[3] एवं भक्ति प्रणायक[4] है जो हरिकथा श्रवण नहीं करते वे आत्मघाती[5] है, उनके कान आहिभवन[6] तथा उनकी छाती कुलिश कठोर है ।[7] इसीलिए जीवनमुक्त महात्मा भी निरन्तर हरिगुण श्रवण करते रहते हैं ।[8]

---

१. *भागवत १/५/३६,४०, १/६/३३, १/१०/२४, १/१६/१३ १/१८/४, १०, ११, २/१/५,११, २/२/८–१४, ३/२–३, ३/१३/४८, ३/२८/२९–३०, ३/३३/६–७, ४/८/४५–५२, ४/१२/४५, ४/२०/२४, ६/२/१२,१८,१९,४९, ६/३/३२–३३, ६/८/१२, ९/२४/६२, १०/१/१४, १०/३१/१, ११/१९/२०, १२/३/१५, ४४, ४८, १२/१२/४६ इत्यादि ।*

२. *भागवत १/१/१५, १/३/४०–४१, १/३/४४, १०/१/१४, १२/१२/६५*

३. *भागवत १२/१२/१५*

४. *भागवत १०/१/४*

५. *भागवत १०/१/४*

६. *भागवत २/३/२०*

७. *भागवत २/३/२४*

८. *भागवत १/७/१०–११*

कीर्तन –

नवधा भक्ति का दूसरा अंग 'कीर्तन' है । भगवन्नामलीला एवं गुणों का उच्च स्वर में कथन करना कीर्तन है ।

नाम लीला गुणादीनामुच्चैर्भाषातुकीर्तनम् ।[१]

भागवत में श्रवण भक्ति की भाँति कीर्तन का भी महत्व पदे–पदे प्रतिपादित हुआ है।[२] कीर्तन से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, तथा मनः शुद्धि हो जाती है ।[३] भागवतकार ने कीर्तन का कलियुग में विशेष महत्व स्वीकार किया है ।[४]

स्मरण –

नवधा भक्ति का तीसरा अंग स्मरण एक मानसिक वृत्ति है । येन–केन–प्रकारेण मन से भगवान के साथ सम्बन्ध स्थापित करना स्मरण है ।

यंथाकथच्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरूच्यते ।[५]

चिन्तन और ध्यान शब्द भी इसके पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।[६] भागवत में स्मरण भक्ति को विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण स्थान दिया है ।[७] भागवतकार श्रवण कीर्तनादि का फल अविचलहरिस्मृति ही मानते हैं ।

अविस्मृतिः श्रीधरपादपादभर्योगुणानुवाद श्रवणादिर्भिहरे : ।[८]

---

१. *हरिभक्ति रसामृतसिंधु १/२/२९*

२. *भागवत १/१/१४, १/२/४,१७, १/५/१०, १/६/३५, १/१८/४, २/१/५, २/२/३६ ३/३३/७, ३७, ४/१२/४८, ४/२४/७६, ५/५/११, ६/२/१५, ८/२३/३१, १२/१२/४७, ५१, ६५ १२/१३/२३ आदि ।*

३. *भागवत–६/२/१८, ६/२/३८, १२/१२/२३,*

४. *भागवत ११/५/३६–३७, १२/३/५*

५. *हरिभक्तिरसामृत सिन्धु–१/२/३२*

६. *भागवत १/६/१६–१७, ७/१/२८, ११/१४/२७*

७. *भागवत २/१/१६, २/२/१४, २/४/१५, ७/१/२७/२९ १०/२/३७, ११/१४/२७, १२/१२/५४*

८. *भागवत १२/१२/५३*

पाद सेवन –

नवधा भक्ति का चतुर्थ अंग पादसेवन है । भागवत में इस भक्ति का भी विविध रूपो में विवेचन हुआ है, जिसका उल्लेख यत्र–तत्र देखने को मिलता है ।[1] भागवतकार के मत में पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का एकमात्र उपाय हरिपदसेवन है ।

> धर्मार्थकामोक्षाख्यं य इच्छेच्छेय आत्मन : ।
>
> एकमेत्र हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ।।[2]

अर्चन –

अर्चन नवधा भक्ति का पाँचवा अंग है । अर्चन शब्द पूजन का पर्याय है । नवधा भक्त्यार्न्तगत अर्चन का तात्पर्य प्रतिमा पूजन है । भागवत साहित्य में अर्चन भक्ति का भी महत्व भूरिश: वर्णित हुआ है ।[3] भागवतकार के मत में भगवच्चणार्चन, स्वर्गापवर्ग समस्त सम्पत्ति एवं योगसिद्धियों की प्राप्ति का मूल है ।

> स्वर्गापर्वगयो: पुसांयां रसायां भुवि सम्पदाम्
>
> सर्वासामपि सिद्धिनां मूलं तच्चरणार्चनम् ।।[4]

अर्चन को भक्ति प्राप्ति का एक साधन मानते हुए उसके अनिवार्यत्व पर भागवत ने बल नहीं दिया ।

---

१. *भागवत ३/७/१४, ३/९/६, ३/२८/२१–२२, ४/२१/३१, ६/१५/२८ ८/२०/१९, १०/१३/६२–६४, १०/१४/३४–४१, १०/८६/२९, ३०,३९, ११/२७/१२–१४,*

२. *भागवत ४/८/४१*

३. *वही १/२/१४, २/४/५, ४/८/५४–५७, ४/२०/१९, १०/२२/१, १०/३३/४७–४८, १०/५६/३५, ११/५/४३, ११/२७/११–१५*

४. *भागवत १०/८१/१९*

वंदन–

वंदन नवधा भक्ति का छठा अंग है । भजनीय के प्रति भक्त के द्वारा किया गया प्रणाम वंदन है । नमस्कार और स्तुति भी वंदन के अर्थ में मान्य है । उनकी मान्यतानुसार भगवान को प्रणाम न करने वाले सिर बोझ तथा कड़वी लौकी तुल्य है ।[1]

दास्य–

भगवान को स्वामी एवं अपने को सेवक मानकर कर्मार्पण तथा सर्वथा उनकी सेवा करना दास्य है ।

दास्यं कर्मार्पणं तस्कैंकर्प्यापि सर्वथा ।[2]

दास्य भक्ति का भी भागवत में अनेक स्थलों पर प्रतिपादन हुआ है ।[3] भगवच्छरणागति समस्त दुःखो को समूल नष्ट कर देती है ।[4] इसीलिए भक्त भगवान से दास्य योग की याचना करते हैं ।

भूमन्भ्रमामि वद में तव दास्य योगम् ।[5]

भागवतकार की यह मान्यता है कि राग,द्वेष,मोह, लोभ तथा सांसारिक बंधन तभी तक कष्टप्रद एवं वन्धनकारी है, जब तक जीव भगवद्दास नहीं हो जाता ।[6] दास्य भक्तों का ईश्वर

---

१. *भागवत – २/३/२*

२. *हरिभक्ति रसामृत सिंधु–१/२/३३*

३. *भागवत – ३/४/१५,२०, ४/२०/२७, ५/१७/१८, ७/७/५०, ७/९/१६ १७, २४, १०/४१/३०,३३,३४, १०/३८/१५, २६,३४*

४. *भागवत ७/९/१६*

५. *भागवत ७/९/१७*

६. *भागवत ३/९/६, १०/१४/३६*

ही माता–पिता, गुरू, स्वामी सब कुछ होता है ।[1] भगवान अपने सेवकों का अधीनत्व भी स्वीकार करते हैं ।

अहं भक्तं पराधीनो हय स्वतन्त्र इव द्विज ।[2]

दास्यभक्त उन्हें प्राणवत प्रिय होता है । यहाँ तक कि वे अपने भक्तों को छोड़कर न तो अपने आपको चाहते है, और न ही अपनी अर्द्धांगिनी लक्ष्मी को । शरणागत भक्तों को छोड़ने की कल्पना भी वे नहीं कर सकते ।[3] उनका पालन–पोषण एवं रक्षण वे स्वंय करते हैं ।

सख्य –

'सख्य' नवधा भक्ति का आठवाँ अंग है । इसमें बंधुभाव प्रधान होता है । भगवान में विश्वास ही इस भक्ति का विशेष अंग है ।

अंगत्वमस्य विश्वास विशेषस्पतु केशवे ।[4]

विश्वास और मित्रवृत्ति नाम से इसके दो भेद करते हुए श्री रूपगोस्वामी ने श्रद्धावान मात्र को इसका अधिकारी बताया है ।

विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्य द्विविधमीरितम् ।

श्रद्धामात्रस्य तदभक्तावधिकारित्व हेतुता ।।[5]

इसीलिए यह भक्ति अत्यंत दुष्कर है, इसमें सिद्धि किसी धैर्यवान व्यक्ति को ही प्राप्त होता है ।[6]

---

१. *भागवत १/११/७*

२. *भागवत ९/४/६३*

३. *भागवत – ९/४/६४, ६८*

४. *हरिभक्ति रसामृत सिंधु १/२/३७*

५. *हरिभक्ति रसामृत सिंधु १/२/३६*

६. *हरिभक्ति रसामृत सिंधु १/२/३९/४०*

भागवत में सख्य भक्ति प्रतिपादक स्थलों की भी विपुलता है । अर्जुन, ग्वाल–बाल, उद्धव, सुदामादि श्रीकृष्ण के सखा–भक्त हैं । इस प्रकार भागवत में सख्य भक्ति के विवेचन की विपुलता है ।

आत्म निवेदन –

आत्म निवेदन नवधा भक्ति का अन्तिम एवं सर्वप्रमुख अंग है । भगवान के प्रति सर्वतोभावेन किया गया आत्म समर्पण, आत्म निवेदन है । शरणागति प्रपत्ति तथा न्यास शब्द इसी के समानार्थक हैं । इसमें भक्त केवल कृपाकांक्षी होता है । आत्म–समर्पण कर वह निश्चिन्त हो जाता है । उसके कल्याण का सम्पूर्ण दायित्व भगवान पर होता है । भागवत में ऐसे अनेक स्थल है जहाँ आत्म निवेदन अथवा शरणागति की अभिव्यक्ति हुई है ।[1]

पादाम्बुजं रघुपति शरणंप्रपद्ये ।[2]

भक्ति की आसक्तियाँ –

भक्त्याचार्य नारद ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति की एकादश आसक्तियों का उल्लेख किया है ।[3] भक्तों में इन सब अथवा एक सा एकाधिक आसक्तियों का विकास हो सकता है। गोपियों के प्रेम में इन सभी रूपों का विकास हुआ था ।[4] भागवत में इनके उदाहरण न्यूनाधिक रूप

---

१. *भागवत – १/११/३४, २/४/१६–१७, ४/९/१६, ४/३१/३८, ६/९/२७, ६/९/४७, ७/८/५१, ७/९/२२–१४४, ८/७/२१–२२*

२. *भागवत ९/११/२१, १०/२/२६, १०/३/२६, १०/३८/१९–२०, १०/४०/३०, १०/७०/३९*

३. *नारद भक्ति सूत्र – सूत्र ८२*

४. *प्रेमदर्शन पृ० १८६*

में मिल जाते हैं । एकादश आसक्तियाँ इस प्रकार हैं – गुणमाहात्म्याशक्ति[1], रूपाशक्ति[2], पूजाशक्ति[3] स्मरणाशक्ति[4], दास्यशक्ति[5], सख्याशक्ति[6], कान्ताशक्ति[7], वात्सल्यशक्ति[8], आत्मानिवेदनाशक्ति[9] तन्मयाशक्ति[10] और परमविरहाशक्ति[11]

भक्ति की सुलभता –

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति के सुलभत्व का निरूपण करते हुए उसके चार कारण बतलाए गए हैं – क– भक्ति स्वंय प्रमाण रूपा है । ख– उसको प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। ग– वह शान्तिरूप है और घ– वह परमानन्द रूप है ।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ।[12]

---

१. *भागवत* २/४/११, ४/२०/२४–२६, १०/१/१३–१५, १०/३१/४,९

२. *भागवत* १०/२९/४०, १०/३१/१५, १०/३८/२८–३४,

३. *भागवत* ४/२०/३४, ५/१८/१९–२०, ९/४/२९–३४, १०/२१/११

४. *भागवत* ४/८/७१–७७, १०/८३/४९

५. *वही* १०/२९/३६–३९,४१ १०/३८/८–११–१५,१६,१९

६. *भागवत* १/९/३३–३५, १०/१३/८–१०, १०/१४/३२, १०/४६/१–३, १०/८०/१९

७. *भागवत* १०/५२/३७–४०, १०/५९/३४–३५, १०/८३/८–१०,३९,४०

८. *भागवत* १०/८/२३–२५, १०/११/१४–१९

९. *भागवत* ८/२२/२–७, १०/२९/३१–३२

१०. *भागवत* ३/२/४, १०/२१/२०, १०/२९/९, १०/३०/४३–४४ १०/३८,३५, १०/४७/९–१०

११. *भागवत* १/१५/१–३,६,१८,१९, १०/२९/१०, १०/४७/४४, ११/२९/४६

१२. *नारद भक्ति सूत्र सूत्र* ५८ *वही सूत्र* ५९, ६०

भागवत में अनेक स्थलों पर भक्ति के सुलभत्व का प्रतिपादन किया गया है । भागवतकार के मतानुसार भगवान की प्रसन्नता के लिए द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, बहुज्ञत्व, यम, नियम, दान आदि की आवश्यकता नहीं है । भक्तिहीन होने पर ये सब विडम्बना मात्र है । भगवत्प्राप्ति तो निष्काम प्रेम से होती है । भक्ति के द्वारा ही सहजतया, दैत्य, राक्षस, स्त्री, शूद्र, पशु, पक्षी तथा अन्य अनेक पापी जीव भी भगवद्भाव को प्राप्त हुए ।[१] भक्ति सर्वसुलभ है, उसके लिए किसी अनिवार्यता अथवा पात्रता की आवश्यकता नहीं है ।[२] योगादि श्रम साध्य साधनों से भवसंतरण कठिन है, वही भक्ति द्वारा सहज तीर्य है ।[३]

इस प्रकार भक्तिमार्ग सर्वश्रेष्ठ, भयरहित, शिवकारक एवं सहज साध्य है ।[४] भागवतकार के मत में भक्ति के लिए किसी प्रकार के आयास–प्रयास की आवश्यकता नहीं है, वह सबको सहज सुलभ है ।

भक्त लक्षण –

भागवत में भक्त लक्षणों का बहुशः निरूपण हुआ है ।[५] इसमें भक्तों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें भी निष्काम भाव से भक्ति करने वालों को ही सर्वोत्तम स्थान दिया गया है । भागवतकार ने भगवत भक्तों का वर्गीकरण करते हुए कहा है –

---

१. *भागवत* ७/७/५३–५४

२. *वही* ७/९/९

३. *वही* ५/४/२२/४०

४. *भागवत* ३/२५/१९, १/१/१६–१७

५. *वही* ३/२५/२१–२३, ११/११/२९–३२

जो समस्त प्राणियों में वर्तमान आत्मा के भगवद्भाव को देखता है – यह जानता है कि मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ तथा सभी पदार्थों में व्यापक हूँ और वो अपने भगवत्स्वरूप में ही समस्त प्राणियों को अध्यस्त देखता है, वहीं भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ है जो भगवान से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, अज्ञानियों पर कृपा तथा भगवान से द्वेष करने वालों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है जो भगवान के अर्चाविग्रह प्रतिमा आदि की पूजा में ही श्रद्धा से प्रवृत होता है, उनके भक्तों की अथवा अन्य किसी की पूजा में प्रवृत्त नहीं होता है । वह साधारण भक्त कहा जाता हैं ।[१]

श्रेष्ठ या उस कोटि के भक्तों पर भागवतकार ने यही कुछ विस्तार पूर्वक लिखा है, जिसका आशय है कि सुख–दुख में समत्भावधारी, सांसारिक माया–मोह से निर्लिप्त, वासनाहीन एवं भगवान पर आश्रित, निरहंकारी, समदर्शी, भगवान का निरन्तर चिन्तक भगवान का सर्वश्रेष्ठ भक्त है । भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण ने जिज्ञासु उद्धव से भक्त लक्षणों का सविस्तार निरूपण किया है, तदनुसार भक्त कृपालु तितिक्षु, प्राणियों में वैरभाव न रखने वाला, पाप वासनाओं से सर्वथा विरत समदर्शी, सर्वोपकारक, संयमी संग्रह, परिग्रह रहित, अकिंचन, मितभोगी, शान्त, स्थिरमति, एकमात्र भगवदाश्रित, अमानी, अप्रमादी, मानद, सर्वभूत, हितरत एवं सर्वकाम विवर्जित होता है ।[२]

भगवद्भक्तों का मन श्रीकृष्ण के चरण कमलों में वाणी उनके गुणगान में, कान कथा श्रवण में, हाथ मन्दिर मार्जन में, नेत्र, भगवन्मूर्ति दर्शन में नासिका तदर्पिता तुलसी के वासग्रहण में, रसना नैवेघ में, पैर तीर्थयात्रा में और शिर उनकी वंदना में लगे रहते हैं ।[३] भगवद्भक्त काम, क्रोध,

---

१. *भागवत पुराण ११/२/४५–४७*

२. *भागवत ११/११/२९–३२*

३. *भागवत ९/४/१८–२०*

लोभ, मोह, मनमान, राग–द्वेष तथा कपट दम्भ से सर्वथा रहित होते हैं । वे सर्वप्रिय, सर्वहितैषी, दु:ख सुखादि द्वन्द्वों में समभाव, सत्यंप्रियंवद तथा सभी अवस्थाओं में राम के शरणागत होते हैं।

वे पर स्त्री को मातृवत तथा परधन को विषवत मानते हैं पर सम्पत्ति को देखकर हर्षित होना, पर विपत्ति में विशेष रूप से दु:खी होना, अवगुणों को त्यागकर गुणों को ग्रहण करना, गोविप्रहित संकट सहना तथा मर्यादा मार्ग का अनुसरण करना उनका स्वभाव है, उनके माता–पिता, गुरू स्वामी सब कुछ एक मात्र भगवान होते हैं, जाति–पाति धनधर्मादि के झमेले को छोड़कर वे भगवान में ही अपना चित्त लगाए रखते हैं, उनके लिए स्वर्ग, नरक तथा अपवर्ग (मोक्ष) सभी समान होते हैं, क्योंकि वे सर्वत्र धर्नुधर राम को ही देखते हैं ।

भागवत में भक्ति के सात्विक भावोपपन्न भक्त के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उसके हृदय में भगवान शरीर में पुलकावलि, जिह्वा में भगवन्नाम तथा नेत्रों में प्रेमाश्रु का निवास होता है । उसका चित्त द्रवीभूत एवं वाणी गद्गद हो जाती है, वह बार–बार हँसता है और कभी रोता है, कभी लज्जा छोड़कर उच्चस्वर में गाता और नाचता है । इस प्रकार का भक्त संसार को पवित्र कर देता है ।

नेत्रे जलं गात्ररूहेषु हर्ष : ।[१]

भक्त महिमा –

भागवत में भगवान ने स्वंय श्रीमुख से भक्तों की महिमा का मुक्तकण्ठ से गान किया है। वे उनकी पगधूलि से स्वंय को पवित्र करने की कामना से उनके पीछे–पीछे चलते हैं।

---

१. *भागवत २/४/२४*

निरपेक्षं मुनिशान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।

अनुप्रणाम्यहं नित्यं पूयेयेत्ङ्घ्रिरेणुभिः ।।[१]

भगवान भक्तों के अधीन रहते है, क्योंकि भक्तों ने उनके हृदय पर अपना अधिकार कर लिया है, वे अपने भक्तों को छोड़कर अपने आपको तथा अपनी अर्द्धागिंनी लक्ष्मी को भी नहीं चाहते !

अहं भक्तपराधीनो भक्तैर्भक्तजनप्रिय : ।

नाहमात्मानमाशासे भद्‌भक्ते : साधुभिर्विना ।

श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन येषां गतिरहं परा ।[२]

भक्त भगवान के हृदय स्वरूप है । अतः भगवान उन्हें छोड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकते ।[३] भक्त का तिरस्कार करने की शक्ति देवता अथवा किसी पार्थिव प्राणी में नहीं है।

न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।

विभूतिभिर्वाभिभववदे देवोऽपि किमुपार्थिव : ।।[४]

भक्तों की सेवा में अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा काम लोभादि शान्त हो जाते हैं।[५] भागवतकार की दृष्टि में भक्त सेवा साक्षात मुक्ति का द्वार है ।[६]

निष्काम भक्तों के हृदय में धर्मज्ञानादि सद्‌गुणों सहित समस्त देवता निवास करते हैं ।

---

१. *भागवत ११/१४/१६*

२. *वही ९/४/६३—६४*

३. *वही ९/४/६८, ९/४/६५*

४. *भावगत १०/७२/११*

५. *वही १/२/१८—१९*

६. *महत्सेवां द्वारमाइविर्मुक्तेभागवत — ५/५/२*

यस्यास्ति भक्तिभर्गवत्यकिन्चना सर्वेगुणस्तत्र सभासते सुरा : ।[1]

शान्त समदर्शी तथा सदाचारी भक्तों के निवास करने पर कीकट (अत्यंत अपवित्र स्थान) भी पवित्र हो जाते हैं ।

यत्र यत्र च मद्भक्ता: प्रशान्ता: समदर्शिन : ।

साधव: समुदाचास्ते पूयन्त्यपि कीकटा: ।।[2]

भागवतकार भक्त स्वपत्र को उच्च्कुलोत्पन्न तथा सर्वगुण सम्पन्न किन्तु अभक्त ब्राह्मण से वरिष्ट मानते हैं ।

विप्राद द्विषद्वगुणयुतादरविन्द नाप्मपादारविन्द विमुखाच्छवपंचवरिष्ठम् ।

मन्ये तदर्पित मनोवचने हितार्थ प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरि मान: ।[3]

इस प्रकार उक्त विवचेन से यह स्पष्ट होता है कि भागवत में भक्त महिमा का भूरिश: प्रकाशन हुआ है ।

भक्तों के भेद –

भागवतकार ने भक्तों के निम्न भेद किए हैं –

द्विविध भक्त –

भागवत में कामना के आधार पर भक्तों के दो भेद किए गए हैं –

अकाम एवं सकाम्।

---

१. *भागवत ५/१८/१२*

२. *भागवत ७/१०/१९*

३. *भागवत ७/९/१०*

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकामो उदार घी ।

तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत् पुरूषं परम् ।। [1]

भागवत के कृष्ण तो आत्मपावनार्थ पगधूलि लेने की इच्छा से ऐसे भक्तों के पीछ—पीछे चलते हैं ।[2] भागवतकार की भक्ति का आदर्श अकाम भक्ति ही है । अर्थ, काम, धर्म, अथवा मोक्ष की कामना से की गई भक्ति सकाम शक्ति है । भागवतकार ने सकाम भक्तों के उन्तीस भेद किए हैं ।

१— ब्रह्मवर्चस्काम् २— इन्द्रियकाम ३— प्रजाकाम ४— श्रीकाम

५— तेजस्काम ६— वसुकाम ७— वीर्यकाम ८— अन्नाघकाम

९— स्वर्गकाम १०— राज्यकाम ११— प्रजानुकूल्यकाम १२— आयुष्काम

१३— पुष्टिकाम १४— प्रतिष्ठाकाम १५— रूपाभिकाम १६— स्त्रीकाम

१७— आधिपत्यकाम १८— यशस्काम १९— कोशकाम २०— विधाकाम

२१— दाम्पत्यकाम २२— धर्मकाम २३— तन्तुकाम २४— रक्षाकाम

२५— ओजस्काम २६— राज्यकाम २७— अभिचार काम २८— कामकाम

२९— मोक्षकाम ।

त्रिविध भक्त —

भागवतकार ने गुणों के आधार पर भक्तों के तीन भेद किए हैं — तामस, राजस एवं सात्विक । हृदय में क्रोध, हिंसा तथा मात्सर्यादि का भाव रखकर उपासना करने वाला तामस, भोग यश और ऐश्वर्य की कामना से उपासना करने वाला राजस, तथा कर्मार्पण पूर्वक कर्तव्य बुद्धि

---

१. *भागवत २/३/१०*

२. *भागवत ११/१४/१६*

से उपासना करने वाला सात्विक भक्त है ।[१]

भागवतकार ने भागवत के एकादश स्कंध में उत्तम, मध्यम और प्राकृत भेद से एक और त्रिविधात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है ।[२] प्राणिमात्र में भगवद्दर्शन करने तथा जगत को भगवत्स्वरूप मानने वाला उत्तम भक्त है ।[३] भगवान से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता दुखी और अज्ञानियों पर कृपा तथा भगवद्द्वेषी की उपेक्षा करने वाला मध्यम भक्त है ।[४]

श्रद्धा सहित भगवान की प्रतिमादि की पूजा करने वाला प्राकृत है ।[५]

चतुर्विध भक्त –

श्रीमद्भगवदगीता में भक्तों के चार भेद किए गए हैं – आर्त अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी, इनमें ज्ञानी भक्त भगवान को विशेष प्रिय हैं ।

चर्तुविधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्णम ।।[६]

भागवत में इस प्रकार का वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु तदाख्यापित भक्तों में उक्त सभी श्रेणी के भक्त हैं । शारीरिक या मानसिक संताप, आततायियों के उत्पीड़न से मुक्ति अथवा प्रतिष्ठाहीन या ऐश्वर्य भ्रष्ट होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिए भगवान की भक्ति करने वाला

---

१. *भागवत ३/२९/७/१०*

२. *भागवत ११/२/४५/४७*

३. *वही ११/२/४५, ४८–४५*

४. *वही ११/२/४६*

५. *भागवत ११/२/४७*

६. *श्रीमद्भगवद्गीता ७/१६ और ७/१७–१८*

आर्तभक्त है । भागवत में गजेन्द्र[१], जरासन्ध के बन्दी राजागण[२] तथा कुन्ती[३] आदि आर्तभक्त हैं। ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना से भक्ति करने वाला अर्थार्थी भक्त है । भागवत के ध्रुव इसी कोटि के भक्त है । रूक्मिणी और सीता द्वारा की गई अम्बिका देवी की पूजा इसी प्रकार की भक्ति के अन्तर्गत है ।[४]

परमात्मा एवं आत्मा को तत्वतः जानने की इच्छा से भगवान् की भक्ति करने वाला जिज्ञासु भक्त है । आत्म स्वरूप को जानने एवं एकमात्र परमात्मा को ही परमप्राप्त मानने वाले भक्त ज्ञानी हैं । भागवतकार के शुकदेव, सनकादि, नारद तथा प्रह्लाद एवं तुलसी के शंकर, वाल्मीकि आदि ज्ञानी भक्त हैं ।

भक्तों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें भी निष्काम भाव से भक्ति करने वालों को ही सर्वोत्तम स्थान दिया गया है । भागवतकार ने भगवत भक्तों का वर्गीकरण करते हुए कहा है — जो समस्त प्राणियों में वर्तमान आत्मा के भगवद्‌भाव को देखता है — यह जानता है कि मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ, तथा सभी पदार्थों में व्यापक हूँ और जो अपने भववत्स्वरूप में ही समस्त प्राणियों को अध्यस्त देखता है, वही भगवद्‌भक्तों में श्रेष्ठ है ।

भक्तों के वर्गीकरण का एक दूसरा विवरण भी उल्लेखनीय है । भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहा गया है —

---

१. *भागवत ८/२–३*

२. *भागवत १०/७०–७३*

३. *भागवत १/८*

४. *भागवत १०/५३/४५–४६*

साधकों के भाव के अनुसार भक्ति–योग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है, क्योंकि स्वभाव तथा गुणों के भेद से मनुष्यों के भाव में ही विभिन्नता आ जाती है, जो भेद दर्शी, क्रोधी पुरूष, हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य का भाव रखकर मुझसे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त हैं, जो पुरूष विषय, यज्ञ तथा ऐश्वर्यादि की कामना से प्रतिमादि में मेरा भेदभाव से पूजन करता है, वह राजस भक्त है, जो व्यक्ति पापों का क्षय करने के लिए, परमात्मा को अर्पण करने के लिए तथा पूजन को कर्तव्य समझकर मेरा भेदभाव से पूजन करता है, वह सात्विक भक्त हैं।[१]

उक्त तीन के अतिरिक्त चौथी निर्गुण भक्ति का लक्षण बताते हुए कहा गया है –

जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति का तैलधारावत आविच्छिन्न रूप से युक्त सर्वान्तियामा के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरूषोत्तम में निष्काम एवं अनभ्य प्रेम होना निगुर्ण भक्ति योग का लक्षण है । भक्ति का उपर्युक्त वर्गीकरण साधक की वृत्तियों के आधार पर किया गया है । साधना पक्ष को ध्यानं में रखते हुए भी नवधा भक्ति की योजना भागवत में की गई है –

उपर्युक्त समस्त विवेचना के आधार पर यह कहना सर्वथा संगत होगा कि भागवतकार भक्ति को ही साध्य मानते हैं, उनकी दृष्टि में मुक्ति नहीं भक्ति ही परम पुरूषार्थ है ।[२]

---

१. *भागवत पुराण ३/२९/७–१०*

२. *भागवत पुराण ३/२९/१४*

अध्याय : पंचम
उपसंहार

उपसंहार

भक्ति के उद्‌भव के सम्बंध में अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा रही है कि यह ईसाइयत की देन है, तथा कुछ भारतीय विद्वान इसे द्रविड़ या इस्लाम की देन स्वीकार करते रहे हैं। स्वभावत: भक्ति को प्राचीनतम धर्म–साधना–पद्धति सिद्ध करने का मोह उत्पन्न हुआ और लोगों का ध्यान ऋग्वेद की ओर गया। (मध्यकालीन धर्म सम्प्रदायों ने भी ऋतिसभ्यता प्राप्त करने के लिए वेद से कभी–कभी असम्बन्धित होते हुए भी स्वंय को इससे सम्बंधित किया था) ऋग्वेद में भक्ति खोजने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किए गए–

१– विष्णु और कृष्ण का समीकरण।

२– भक्ति भावना सम्बंधी ऋचाओं की खोज।

विशेषतया उन ऋचाओं की खोज जिनमें भक्त और भगवान के बीच भावात्मक या रागात्मक सम्बंधों की झलक मिलती है। पर इस अध्ययन से न तो वैदिक तथा भागवत कृष्ण में ही किसी प्रकार का साम्य प्राप्त हो सका है, और न उपर्युक्त उद्‌देश्य से प्रस्तुत की गई ऋचाओं से ही आंदोलन का रूप धारण कर लेने वाली भक्ति का बीज ऋग्वेद में सिद्ध हो सका है। ऋग्वेद की 'भक्ति' सभी आदि धर्मों में पाई जाने वाली सामान्य भावना है और वह गीता की त्रयर्थी तथा भागवत की काम्या भक्ति है। कोई भी विदेशी या अब्राह्मण प्रभाव इसमें नहीं है। यह पूर्णतया ब्राह्मणीय उपज है और यदि मध्यकालीन भक्ति का मूल नहीं, मूलोत्पादक अप्रत्यक्ष कारण देखा जाय तो वह वैदिक साहित्य मेंही मिलेगा, अन्यत्र नहीं।

यद्यपि विष्णु को ऊँचा उठाने के लिए 'ऐतरेय' तथा 'शतपथ' ब्राह्मणों ने बहुत चेष्टा की थी, तथापि वह भी भक्तों के लिए अपेक्षित सर्वशक्तिमान ऐश्वर्यशाली भगवान नहीं बन सके। 'ब्राह्मणों ने तृविक्रम की कथा को भी विस्तार दिया पर वाराह, वामन आदि से सम्बंधी ब्राह्मण कथाओं का अवतारों से कोई सम्बंध नहीं ज्ञात हुआ है। हाँ पुराणकारों ने अवतारों का मेल ब्राह्मण कालीन कथाओं से मिलाने की चेष्टा अवश्य की है। अत: ब्राह्मण ग्रन्थों का भक्ति

से कोई सरोकार न था, वे यज्ञीय कर्मकाण्डों का ही विस्तार करते रहे और उधर आरण्यक ज्ञानकाण्ड को आगे बढ़ाते रहे।

आरण्यकों की परम्परा को आगे बढ़ाने में उपनिषद्कारों ने योगदान दिया और इसी युग में (श्वेताश्वेतर उपनिषद् के युग में – बुद्ध पूर्व) 'मध्यभारत' एवं 'गीता' में पूर्ण विकास पाने वाली भक्ति का सूत्रपात भक्ति–उत्प्रेरक समस्त मूलभूत भावों के संयोजन के साथ होता है। सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति का उद्‌गम स्थान उपनिषद ही है, और इनकी तिथि ९वीं तथा १०वीं शती ई० पूर्व मानी जा सकती है। उपनिषदों ने भक्ति–दर्शन को भी महती देन दी है। ब्रह्म को सर्वशक्तिमान दिखाते हुए उसे ही जगत का कारण बताकर उपनिषदों में उसके दोनों रूपों की सुन्दर कल्पना की गई है, पर आग्रह निराकार ब्रह्म की ही अधिक है, और आत्मा तथा परमात्मा में निकट का सम्बंध दिखाते हुए दोनों को एक ही नाडे के दो पक्षी बताया गया है। आशय यह है कि औपनिषदिक ब्रह्म तथा अन्यान्य दार्शनिक मान्यताएं भक्ति दर्शन को प्रभावित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग में सामंजस्य भी नहीं स्थापित किया गया है।

भक्ति को महत्व देने वाला, उसका व्यापक प्रचार करने वाला प्रथम ग्रन्थ है 'महाभारत' जिसने शताब्दियों की लौकिक भक्ति परम्परा को सर्व प्रथम् लिपिबद्ध किया। 'महाभारत' के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि भागवत धर्म तब तक लोक प्रचलित हो चुका था। भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वंय सात्वत या वृष्णि वंशीय कृष्ण थे, जिनके कुल वालों ने इसके प्रसार में महत्वपूर्व योगदान दिया था। इस सम्प्रदाय के बढ़ते हुए प्रभाव ने न जाने कितने पूर्व प्रचलित धर्म सम्प्रदायों को अपने में समेट लिया। इसी प्रकार अनेक वैदिक, उत्तर वैदिक, तथा लौकिक देवताओं का समीकरण भी महाभारत युग में ही हुआ था। नारायण वासुदेव, वासुदेव–विष्णु, वासुदेव–कृष्ण आदि का समीकरण इसी युग में किया गया था। आशय यह है कि पांचरात्रिकों के चतुर्व्यूह सिद्धान्त तथा अवतारवाद की स्थापना द्वारा 'महाभारत' ने भागवत् सात्वत या

एकान्तिक धर्म को सर्वप्रथम् श्रुतिसम्मत सिद्ध करते हुए इसका व्यापक प्रचार किया और नारद तथा चित्रशिखण्डियों को इसके प्रचार का एवं राजा वसु उपरिचर को इसके प्रश्रय का श्रेय दिया। यद्यपि यज्ञ तथा तप की अब भी उपेक्षा नहीं की जाती थी, तथापित भक्ति को श्रेष्ठता प्रदान करने की चेष्टा की जाती रही, और इसे लोक रूचि के निकट लाने का प्रयत्न भी किया जा रहा था। चित्रशिखंडियों के एक लाख श्लोकों वाले (अब अप्राप्य) पांचरात्र शास्त्र की रचना, लोक धर्म की व्याख्या एवं उसकी श्रुति सम्मतता के उद्देश्य से ही हुई थी जिससे जगत–कल्याण, ईश्वर–प्राप्ति तथा हित–साधन हो सके।

भागवती या पाँचरात्रिकों के आराध्य देव कृष्ण, इस अध्ययन द्वारा एक ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात हुए हैं, और 'छान्दोग्य' उपनिषद के देवकी पुत्र कृष्ण तथा 'महाभारत' एवं पुराणों के कृष्ण एक ही व्यक्ति है। अतः मैक्समूलर तथा मैकडोनल–कीथ का पार्थक्य वाला मत मान्य नहीं है। यह भी ज्ञात हुआ है कि कृष्ण आदि देवता नहीं थे, प्रत्युत उपदेशक थे। इन्हें देवत्व प्रदान करने की घटना इनके जीवनकाल के बाद की हो सकती है। ये सत्वत या वृष्टिवंशीय थे, और मथुरा इनका जन्मस्थान था। राजनीतिक उत्पीड़न ने शूरसेन प्रदेशीय सात्वतों को दक्षिण भारत की ओर स्थानान्तरण के लिए बाध्य किया था, जिसके फलस्वरूप महाभारतीय पांचरात्रिकों के उत्तरीय तथा दक्षिणीय दो बल हो गए। पांचरात्रिकों को भी अप्पय दीक्षित तथा कुछ अन्य विद्वानों ने अवैदिक कहा है किन्तु जहां तक महाभारत युग का प्रश्न है, पांचरात्रिकों का वेदमत से अपना पृथक सिद्धान्त होते हुए भी वेद विरोधी तो किसी प्रकार भी न थे, हां युग की आवश्यकतानुसार उन्होंने यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा तपों को भक्ति की ओर अवश्य उन्मुख कर लिया था। इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म को भी उन्होंने सहिष्णुतापूर्वक अपनाते हुए शूद्रों के लिए भी भक्ति का मार्ग खोल दिया था। पर इस युग में कहीं भी उन्होंने श्रुतियों का विरोध नहीं किया है। महाभारतकालीन भक्ति में श्रवण–कीर्तन आदि सभी विधियां उपलब्ध है, पर उस समय तक मधुरोपासना की कोई गुंजाइश नहीं हो पाई थी, और बाल–गोपाल से महाभारतकालीन पांचरात्रिक अपरिचित थे, पर

हम डा० भण्डारकर तथा डा० रायचौधरी से सहमत नहीं हो सके हैं कि बाल गोपाल आभीरों की देन है। यह पूर्णतया ब्रह्मणीय मष्तिष्क की उपज है, हां तिथि अवश्य पहली शती ई० के लगभग पड़ती है। भक्ति का स्वरूप समन्वयात्मक था और आराध्य देव भगवान वासुदेव कृष्ण थे, जिनका पद क्रमशः ऊँचा उठता जा रहा था। 'महाभारत' में हमें वराह, नृसिंह, वामन, भार्गवराम, दाशरथि राम तथा कृष्ण इन छः अवतारों के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म, बलराम तथा कल्कि को लेकर आगे दस अवतारों की कल्पना का बोध होता है' सर्वभूत हिताय' 'लोक कल्यार्थ' 'भारवतरणम् पृथि्वक्याः' 'निग्रहेणच पापानां साधूनां प्रग्रहेण्यं' आदि अवतारों के उद्देश्य बताए गए हैं। पांचरात्रिक मतों को ही हम अवतारों की कल्पना का श्रेय दे सकते हैं, यद्यपि इसका मूल और ये व्यक्तित्व प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। पर हम मोनियर विलियम्स के इस मत से भी सहमत नहीं हो सकते कि राम तथा कृष्ण इन दोनों क्षत्रिय नेताओं की बौद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्राह्मणों द्वारा आवश्यकतावश अवतार स्वीकार किया गया। यह घटना बुद्धपूर्व ही घट चुकी थी, इसके पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध्ध है। 'रामायण' महाकाव्य के अर्न्तसाक्ष्यों से भी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचें हैं कि जैकोबी, मैकडोनल, तथा भण्डारकर महोदय का यह मत अधिक तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि वाल्मीकि ने राम को अवतार रूप में नहीं स्वीकार किया है, प्रत्युत इसके विरूद्ध तथाकथित प्रक्षिप्तांशों को छोड़ देने पर भी, शेष भाग में भी राम का देवत्व सुरक्षित और राम के अनन्य भक्त 'रामायण' में विद्यमान है। पार्थ महोदय के इस कथन से भी अधिक सत्यता नहीं प्राप्त हुई है कि कृष्णावतार के पश्चात रामावतार की कल्पना की गई थी। किन्तु दोनों महकाव्यों से भी अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गीता' है, जिसने कर्म, ज्ञान तथा भक्ति में से भक्ति मार्ग को न केवल महत्व प्रदान किया प्रत्युत इसकी सुदृढ़ स्थापना करते हुए सगुण भक्ति को बढ़ावा भी दिया। 'गीता' में भक्तों के आराध्य देव का स्वरूप भी निश्चित किया गया, और यहां भक्तों के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का नियमन किया गया। भक्ति की लगभग सभी विधियां परवर्ती ग्रन्थकारों को, विशेषतया पुराणकारों को गीता से ही

उपलब्ध हुई है। यही कारण है कि प्रस्थानत्रयी में उपनिषद के बाद इसी का स्थान है।

महाकाव्य युग से भक्ति भावना का जो प्रसार हो रहा था और जिस प्रकार पांचरात्रिकों का मत उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा था, उस गतिविधि में कालान्तर में अनेक समस्याएं बाधा बनकर खड़ी हो गई। इन समस्याओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या थी, अब्राह्मण हिन्दू धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव, जो भागतवतों को वाह्य एवं आभ्यन्तरिक दोनों रूपों में प्रभावित करके उनके अनुयायियों को या तो अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था अथवा फिर उनकी पूजा विधियों पर अपनी छाप छोड़ता जा रहा था, जिससे आशंका इस बात की हो गई थी कि प्राचीन पांचरात्रिक सात्वत या भागवत धर्म अनी मौलिकता खोकर तन्त्र–मंत्र के प्रभाव में कुछ ऐसा पा जाएगा या फिर ब्राह्मण वर्ण–व्यवस्था में कुछ ऐसी ढ़िलाई आ जाएगी कि भागवतों को वैदिक वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा करके कोई नया रूप ग्रहण करना पड़ेगा। इस धार्मिक कारण के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक तथा सामयिक कारणों ने भी स्थिति गम्भीर कर दी थी और महाभारतीय पांचरात्रिकों को इस लहर ने इतना प्रभावित कर दिया कि उनके अधिकांश आगम वेद विरूद्ध होने लगे।

ऐसी ही विषम परिस्थिति में वैष्णव पुराणकारों ने भक्ति आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया और इस संघर्षमय युग में सफलता के साथ आन्दोलन आगे बढ़ाया। ब्रह्मणोत्तर धर्मों के प्रहारों का मुँहतोड़ उत्तर देने, ब्राहमण धर्म के अन्य सम्प्रदायों के बढ़ते हुए प्रभावों से भागवत धर्म की रक्षा करने तथा अपने धर्म को श्रुति–सम्मत सिद्ध करने का प्रयास साथ–साथ चलता रहा। इतना ही नहीं पूर्व–प्रचलित कर्म एवं ज्ञान मार्ग को भी बहुत ही सुन्दर ढंग से भक्ति मार्ग की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की जाती रही। पर इस व्यापक संघर्ष के लिए लोकमत का सहारा आवश्यक था जिसे पुराणकारों ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति के द्वारा सरलतापूर्वक प्राप्त कर लिया। अवैदिक तत्वों का परिहार करके वर्णाश्रम धर्म एवं श्रुति–स्मृति की सुदृढ़ स्थापना करके शूद्र एवं नारियों तक के लिए भक्ति का मार्ग खोल दिया गया और अब भगवान का लोक रक्षक के साथ–साथ लोकरंजन रूप भी प्रचारित हो गया, जिससे उपासकों की संख्या में तीव्रगति से

अभिवृद्धि होने लगी। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन तथा विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का मूल हम सरलतापूर्वक वैष्णव पुराणों में खोज सकते हैं और भागवत पुराण की प्रतिध्वनि तो हम मध्यकालीन भक्ति साहित्य में स्पष्टतः प्राप्त कर सकते हैं।

लोक के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए वैदिक वाङ्मय को उपवृंहण क्रिया के माध्यम से जनमानस तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य पुराणों द्वारा सम्पन हुआ, इस तथ्य को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है। पुराणकारों की सबसे बड़ी विशेषता है – लोकचित्त की वास्तविक पहचान–गूढ़ तत्वों को जन सामान्य किस रूप में समझ सकेगा, वे उसकी धारणा के अभिन्न अंग बनकर कार्य व्यवहार में कैसे उतर सकेंगे – इसकी सच्ची परख पुराणकारों के थी।उन्होंने जनता की आवश्यकताओं को समझकर उनकी भावनाओं एवं रूचि के अनुकूल प्रचलित कथाओं में परिवर्तन, परिवर्धन, परिष्करण तथा अन्य नवीन कथानकों की उद्‌भावना कर उनके माध्यम से ऐसा सहजतम मार्ग निकाला, जिससे गृहस्थाश्रमी को भी बिना सन्यास के ही श्रेष्ठ प्रेम की प्राप्त हो सके। जैन–बौद्धादि अवैदिक धर्मों में ऐसी सार्वश्रियोविधायिनः सुविधा सुलभ नहीं थी, नहीं तो गृह त्याग (सन्यास) के बिना कल्याण प्राप्ति कथमपि सम्भव ही न थी। यहां तक कि स्त्रियों को भी आत्मकल्याण–सम्पादनार्थ सन्यास के अतिरिक्त कोई दूसरा (सहज) मार्ग नहीं बतलाया गया। यही कारण है कि प्रवज्जा प्रधान में धर्म कुछ काल बाद अव्यवहारिक फलतः अग्राह्य होने लगे। हीनयान तथा महायान रूप में बौद्ध धर्म के विभाजन का भी यही मुख्य कारण था। उसी महायान शाखा ने अस्तित्व एवं प्रभाव को अक्षुण्ण रखने के लिए बहुत ही सनातनी पौराणिक मान्यताओं, यथा सर्वशक्ति समन्वित परोक्षमत्ता में विश्वास अनेक देव–देवियों की कल्पना, विधिवत् मूर्तिपूजा, मंदिरों का निर्माण, सन्यास के बिना भी निर्वाण (बुद्धत्व) की प्राप्ति, अवतारवाद आदि को निःसंकोच स्वीकार कर लिया। व्यापक एवं व्यवस्थित रूप में अवतारवाद पुराणों की ही देन है। ब्राह्मण धर्म की रक्षा के लिए पुराणों में अवतारवाद तथा समन्वयवाद का अधिकाधिक विकास किया गया और ये समाज में इतने लोकप्रिय हुए कि बौद्धों एवं जैनों को

भी अपने मत विशेषतः अहिंसावाद के प्रतिपादन एवं प्रचारार्थ पुराणों को अपनाना पड़ा। जैनों ने तो पुराणग्रन्थों तथा पौराणिक शैली के महाकाव्यों की रचना भी की ।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का जो रूप आज प्रचलित है, वस्तुतः उसमें पौराणिक छाप ही अधिक है। पुराणकार वर्णाश्रम धर्म को समाज की उन्नति एवं व्यवस्था के लिए अनिवार्य मानते हैं।

वेद भारत के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थों के रूप में मान्य है, किन्तु मत्स्यपुराण के कथनानुसार पुराण वेद से भी प्राचीनतर हैं –

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिस्सृताः ।।[१]

अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी पुराण की प्राचीनता ख्यापित करने की दृष्टि से यह कथन महत्वपूर्ण है। पुराण वेद से प्राचीनतर हैं, इस बात को निर्विवाद रूप से नहीं स्वीकार किया जा सकता किन्तु पुराण परम्परा की प्राचीनता में संदेह का स्थान नहीं है। ऋग्वेद, अथर्ववेदादि संहिताओं में, शतपथ आदि ब्राह्मणों में, आरण्यक, उपनिषद् तथा गृह आदि सूत्र ग्रंथों में, रामायण एवं महाभारत में 'पुराण' शब्द का प्रयोग पुराख्यानों के लिए प्रयुक्त मिलता है। पहले 'शतकोटि प्रविस्तर' रूप में पुराण एक ही था।

पुराणमेकमेवासीत् तदाकल्पान्तरेऽनघ।

त्रिवर्ग साधनं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम्।[२]

पुराण का यह रूप व्यास प्राचीनतर है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस अवस्था में 'पुराण' वेदोपवृहंण शास्त्र के रूप में मान्य नहीं था। महामति व्यास ने 'पुराण' को व्यवस्थित 'संहिता' रूप प्रदान किया और तभी से इसका अनुप्रवेश वैदिक परम्परा में हुआ, तथा वेदोवृंहक

१– मत्स्य पुराण–५३/३

२– मत्स्य पुराण–५३/४

रूप में उसकी प्रख्याति हुई।[8]

प्राचीनकाल से ही पुराणों की संख्या १८ स्वीकृत है। इन्हें व्यास रचित माना जाता है। इन १८ पुराणों के अतिरिक्त १८ उपपुराण भी माने जाते हैं। प्राय: प्रत्येक पुराण में १८ पुराणों की नामावलि एवं उनकी श्लोक संख्या उल्लिखित मिलती है। इन पुराणों का शैव, शाक्त, वैष्णवादि मतों के आधार पर वर्गीकरण भी किया गया है। पुराणों के पांच लक्षण (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश मन्वत्तर और वंशानुचरित) सर्वमान्य हैं। किंतु बाद में उपर्युक्त पंचलक्षणों में पांच लक्षण (वृत्ति, रक्षा, संस्था, हेतु, और अपाश्रय) और मिलाकर १० लक्षणों का भी प्रतिपादन कर यह कहा गया कि छोटे पुराणों में पाँच लक्षण तथा महापुराणों में १० लक्षण होते हैं।

पुराणों में समन्वयी प्रवृत्ति प्रधान है, इसीलिए प्रत्येक पुराण अपने प्रतिपाद्य देवता का उत्कर्ष ख्यापन करते हुए भी अन्य देवताओं की अवमानना नहीं करता। वस्तुत: बहुदेववादी होते हुए भी पुराण एक ही सर्वव्यापक ब्रह्म का प्रबल समर्थन करते हैं। अवैदिक धर्मों के प्रहार से वर्णाश्रम धर्म प्रधान वैदिक धर्म की रक्षा करना उनका एक मुख्य उद्देश्य था।

भारतीय इतिहास संस्कृति एवं सभ्यता को समग्र रूप से समझने के लिए पुराणों की उपादेयता आज भी महत्वपूर्ण है। कदाचित् पुराण परिशीलन के बिना उक्त विषयों का अध्ययन निष्पक्ष एवं युक्तियुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पौराणिक विचारधारा भारतीय जनमानस में एक लम्बे अर्से तक प्रवाहमान होकर घुल मिल गई है। आज भारतीय समाज में प्रचलित उपासना पद्धति एवं देवताओं के स्वरूप वैदिक की अपेक्षा पौराणिक ही अधिक है। वेद के प्रधान देवता इन्द्र तथा वरूणादि अन्य देवताओं की छवि नितान्त धूमिल ही नहीं अपितु लुप्त हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोक्त विचार प्रत्यक्षत: गृहीत होने की अपेक्षा पौराणिक उपवृंहण के माध्यम से ग्राह्य हुए हैं।

समस्त पुराण वाङ्मय में भागवत सर्वाधिक् लोकप्रिय विशिष्ट एवं वैदुष्यपूर्ण है। स्वंय पुराणों ने इसके अनल्प महत्व को अनेकश: स्वीकार किया है। प्रतिपाद्य की उदात्तता उसकी

ऐहि, कामुष्मिक, कल्याण दृष्टि, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, श्वपचादि के तरनतास की सहजतम व्यवस्था का विधान सर्वोपयोग भक्तिमार्ग का व्यापक प्रतिपादन उसकी लीलात्मकसरसता उच्चस्तरीय काव्यात्मकता, लोकभिमुखी भाषा, लयात्मक छन्द, योजना, स्वाभाविक अलंकार विधान आदि उसके वैशिष्ट्य के अंतरंग एवं बहिरंग अनेक कारण हो सकते हैं।

कहा जा चुका है कि मध्यकाल में भागवत रामायण और महाभारत से भी अधिक प्रभावशाली ग्रन्थ रहा है।

भागवत भक्त का आकर ग्रन्थ है। भागवत के बिना भक्ति की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है।

आज समाज में संत्रास, कुष्ठा, हिंसा, अव्याचार, अमानवीय, कार्य व्यापार, चरित्र हीनता, विषयभेद दृष्टि आदि का साम्राज्य छाया हुआ है, जिससे मानवता पीड़ित होकर कराह रही है। इन सबकी वृद्धि के साथ मानवता का अस्तित्व भी खतरे में दिखाई पड़ रहा है। मेरी निश्चित धारणा है कि इन सब विषाक्त एवं घातक तत्वों से मानवता के परित्राण के लिए भागवतकार एवं तुलसीदास जैसे लोक कल्याणकारी महापुरूषों की रचनाओं का उदात्तता के साथ अनुशीलन तथा आचारन्वयन करना आवश्यक प्रतीत होता है। आज जिस भावात्मक एकता की अत्यधिक आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है, वह भी इनके साहित्य में परिव्याप्त है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भागवत पुराण का विभिन्न दृष्टियों से अनुलनीय महत्व है। समन्वय प्रवणता इसकी सबसे बड़ी महत्ता है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भागवत का अनुवाद किया जाना उसके उदात्त तथा महत्वपूर्ण स्थान को सिद्ध कर देते हैं, जितनी अधिक टीकाएँ इस पुराण पर उपलब्ध होती है, उतनी अन्य पुराणों पर नहीं। भक्ति रस की दृष्टि से तो यह सर्वस्व एवं अपूर्व ग्रन्थ है। सर्वप्रथम् भक्ति रस का शास्त्रीय प्रयोग इसी पुराण में हुआ है। विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने भक्ति रस की व्याख्या के लिए भागवत को ही अपना उपजीत्य स्वीकार किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से भगवद्गीता के समान ही इस ग्रन्थ को भी समादर प्राप्त है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षां कथन के द्रारा भागवत के विषय गाम्भीर्य की ओर संकेत किया

गया है। यह कथन अक्षरशः सत्य है। नवीन साहित्यिक परिवेश के उदय से भी भागवत की सरसता तथा रोचकता में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं उत्पन्न होने पाई है।

वेदों में सबका अधिकार नहीं है। वेदों के शुद्ध उच्चरित होने पर ही सफल होते हैं। स्थान, समय तथा योग्य अधिकारी की आवश्यकता होती है। भागवत में इस प्रकार की कोई शर्त नहीं है भागवत में सबके लिए समान धर्म का वर्णन नहीं है। बल्कि लोगों के अभिरूचि के अनुसार धर्म की व्यवस्था की गई है। सभी आश्रमों एवं वर्णों के लिए भिन्न–भिन्न धर्म की व्यवस्था है। भागवत कहीं शब्द प्रधान वेद समान आज्ञा देता है तो कहीं अर्थप्रधान पुराण के समान हितोपदेश भी। कहीं–कहीं रसप्रधान काव्य के समान पाठकों को मंत्रमुग्ध करके अच्छे कार्यों में संलग्न होने के लिए प्रेरित करता है।

भागवत में गुणानुवाद की अपेक्षा भगवद्भक्तों की कथा अधिक वर्णित है। श्रीकृष्ण कैसे हैं? इसका समाधान ही भागवत है। भागवत के २२ पूर्णावतारों की चर्चा में श्रीकृष्ण की गणना नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण स्वंय भगवान है–

"श्रीकृष्णस्तु भगवान स्वंय।"

भक्ति को भाव के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है, किंतु भागवत को आधार मानकर रूपगोस्वामी एवं वोपदेव ने भक्ति को रस कोटि में स्थापित कर दिया। इसके अतिरिक्त मधुसूदन ने 'भक्ति रसायन' में अपने समर्थ पाण्डित्य के द्वारा भक्ति को स्वतंत्र रस के रूप में सिद्ध किया है। उपर्युक्त विद्वानों ने भक्ति रस को सर्वश्रेष्ठ तथा समस्त रसों के मूल में भक्ति को ही स्वीकार किया है। यद्यपि उपनिषदों में भी भक्ति का उल्लेख है, परन्तु भागवत में भक्ति भाव की अपूर्व महिमा वर्णित है। लौकिक तथा पारलौकिक वस्तु की उपलब्धि के लिए भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकर किया गया है।"[१]

१– अकामः सर्वकामो व मोक्षकामः उदार घीः।
तीव्रेसा भक्तियोगे न यजेत् पुरूषं पम्।" (भगवत २/३/१०)

भक्ति के द्वारा भगवदाकार वृत्ति हो जाने पर प्रारब्ध अन्य सुख–दुख का अनुभव नहीं होता। भक्ति के द्वारा वासना का विनाश हो जाता है। वैराग्य एवं शमदमादि सम्पत्ति में विकास, एवं क्रिया भाव तथा संचित कर्म राशि को ईश्वर से जोड़ देता है। ईश्वर की प्राप्ति कराने वाले अनेक साधनों – क्रियायोग, ज्ञानयोग, अष्टांग योग तथा बुद्धियोग को ईश्वरानुभूति में सहायक बना देती है और स्वार्गादि की ओर उन्मुख उनकी गति को परमात्मा से जोड़ देना भागवत भक्ति की अपनी विशेषता है।

विविध आचार्यों के विवेकपूर्ण विवेचन से यह निर्विवाद सत्य सिद्ध हो चुका है कि भक्ति मन का उल्लास विशेष है, जो एकरस दशा है। भक्ति विभावादि सामग्री में उत्पन्न अभिव्यक्त होने के कारण रस रूप ही है तथा यही भागवत पुराण का अंगीरस है। भागवत ही ऐसा ग्रंथ है जिसमें सर्वप्रथम् भक्ति रस की अङ्गिता का प्रतिपादन हुआ है। भक्ति रस शास्त्रीय आचार्यों ने भक्ति रस के सिद्धान्त निर्धारण में भागवत को ही आधार और आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। साम्प्रदायिक आचार्यों की भक्ति का मूल स्रोत भी भागवत ही है । यह कह देना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भक्ति से सम्बंधित जो भी ग्रन्थ या साहित्य आज उपलब्ध है वे सर्वथा भागवत से ही प्रभावित है।

भक्ति में लोक जीवन की मान्यताओं और आदर्शों का कोई महत्व नहीं है। भक्ति भक्त के समस्त पापराशि को समूल नष्ट करके उसे शुद्ध कर देती है। यह शुद्धता भक्ति की तल्लीनता में ही सम्भव है।

भागवत भक्ति का महान ग्रन्थ है। इसमें भक्ति को साध्य और साधन दोनों स्वीकार किया गया है। भक्ति के दो भेद भी इसी आधार पर किए गए हैं– साध्यरूपा भक्ति और साधनरूपा भक्ति। इसे परा और अपराभक्ति भी कहते हैं। साधन रूपा भक्ति का नवधा निरूपण किया गया है।

जो जहां जिस स्थिति में है, वहीं से भक्ति की ओर कदम बढ़ा सकता है क्योंकि इसमें

जीवमात्र का अधिकार है। केवल द्विजाति में उत्पन्न विशेष रूप से ब्राह्मणादि ही इसके अधिकारी नहीं है, शूद्र और स्त्रियों के लिए भी भक्ति का द्वार अनावृत है। कागभुसुण्डि, जटायू, गरूड़, गजेन्द्र, जाम्बवान, हनूमान, अंगन, सुग्रीवादि पशु–पक्षी भी भक्ति के प्रभाव से परम पद के अधिकारी हो गए। भगवद्भक्ति के लिए न तो आयु का ही कोई मूल्य है और न तो रूप का ही कुछ महत्व है। विद्या, जाति, पौरूष तथा सम्पत्ति की भी कोई अपेक्षा नहीं है।

भक्ति के समान भगवान को कुछ भी प्रिय नहीं है। भगवान ने नारद जी से स्पष्ट कहा है कि 'न तो मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ और न तो योगियों के हृदय में निवास करता हूँ। किंतु मेरे भक्त जहाँ मेरा गुणगान करते हैं वहीं मैं रहता हूँ। (भगवद्गीता)

किसी पदार्थ का परिचय हम ज्ञानशक्ति के द्वारा प्राप्त करते हैं, परन्तु उसकी प्राप्ति भक्ति कराती है। इसीलिए भक्ति को गति भी कहा गया है।

भक्ति साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाला भागवत पुराण ही है। इसी से प्रेरणा प्राप्त करके कृष्ण भक्ति का आचार्यों ने जन–जन में प्रचार किया। भक्ति के व्यवस्थित और सुस्पष्ट रूप का प्रतिपादन सर्वप्रथम भागवत में ही हुआ है।

नारद एवं शाण्डिल्य भक्ति सूत्र का मूल स्रोत भागवत ही है। जन्म–जन्मान्तर के पुण्य संस्कारों से युक्त हृदय वाले भागवत भक्त ही भक्ति रस का आस्वादन कर पाते हैं।

इस अध्याय का उपसंहार करते हुए पुन: यह कह देना अत्युक्ति नहीं होगी कि भक्ति रस अलौकिक तथा सर्वश्रेष्ठ है। भक्ताचार्यों ने भक्ति रसानन्द को सर्वोपरि माना है। इसका आनन्द मूकास्वादनवत अर्निवचनीय है। श्रीमद्भागवत की प्रशंसा करना नितान्त कठिन है। संस्कृत साहित्य के एक अनुपम रत्न होने के अतिरिक्त भक्ति–शास्त्र का यह सर्वस्व है। "यह निगम–कल्पतरू का स्वंय गलित–फल है, जिसे शुकदेव जी ने अपनी मधुर वाणी से संयुक्त कर अमृतमय बना डाला है।"[१]

१– 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुरवादमृतद्रदव–संयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुक:।।

सहायक
ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

अथर्ववेद–	४ वाल्यूम सम्पा० विश्वबन्धु, विशेश्वरगंज वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट होशियारपुर १९६१
अथर्ववेद–	अनु० राल्फ टी०एच० ग्रिफिथ (द हिम्स आफ द अथर्ववेद) २ वाल्यूम चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६८
ऋग्वेद संहिता–	सम्पा० तिलक महाराष्ट्र, विद्यापीठ वैदिक संशोधन मण्डल पूना ४ वाल्यूम १९३३, ३६, ४१, ४६
दि हिम्स ऑफ ऋग्वेद–	अनु० राल्फ टी०एच० ग्रिफिथ २ वाल्यूम चौखम्भा सीरीज वाराणसी १९६३
यजुर्वेद–	प्रकाश श्रीपाद दामोदर स्तावलेकर भारत प्रेस औंध, सतारा १९८४
वृहदारण्य उपनिषद्–	विथ शंकराज कमेण्ट्री अंग्रेजी अनु० माधवानंद अल्मोरा
छांदोग्य उपनिषद्–	नागरी प्रचारणी सभा काशी
ईशादिदासोपनिषद्–	विथ कमेण्ट्री ऑफ शंकराचार्य सम्पादक बालकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक वानी विलास, संस्कृत लाइब्रेरी वाराणसी
दि प्रिंसपल उपनिषद–	अंग्रेजी अनु० एस० राधाकृष्णन जार्ज एलेन और एनविन लंदन १९५३
कठोपनिषद्–	विथ शंकराज कमेण्ट्री हिन्दी अनु० गीता प्रेस गोरखपुर,
केनोपनिषद–	विथ शंकराज कमेण्ट्री और हिन्दी अनु० गीताप्रेस गोरखपुर

माण्डूक्य उपनिषद्— विथ शंकराज कमेण्ट्री और हिन्दी अनुवाद गीता प्रेस गोरखपुर

मुण्डक उपनिषद्— विथ शंकराज कमेण्ट्री और हिन्दी अनुवाद, गीताप्रेस गोरखपुर

श्वेताश्वेतर उपनिषद्— विथ शंकराज कमेण्ट्री और हिन्दी अनुवाद—गीताप्रेस, गोरखपुर

शतपथ ब्राह्मण अंग्रेजी अनु० इगेलिंग (एस०बी०ई०)

तैत्तरीय आरण्यक— ।। पार्ट्स, सम्पा० विनायक गणेश आप्टे, आनन्द शर्मा प्रेस १९२७

<u>सूत्रग्रन्थ</u>

ब्रह्मसूत्र— विथ भामती कमेण्ट्री द्वारा वाचस्पति मिश्रा प्रकाश० जयकृष्ण दास, हरिदास गुप्ता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९३५

नारद भक्तिसूत्र— स्वामी त्यागीसानन्द, श्रीरामकृष्ण मठ मद्रास १९७२

पारूस्कर ग्रहय सूत्र— प्रकाश० गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास बाम्बे १९३८

संखायन ग्राहयसूत्र— अनु० एस०आर० सहगल मुंसीराम मनोहरलाल दिल्ली १९६०

शाण्डिल्य का भक्तिसूत्र— विथ स्वप्नेश्वर कमेण्ट्री अंग्रेजी अनु०—कावेल वाराणसी १९६५

श्रीभाष्य रामानुज— अभिनवदेशिका की टीका श्री उत्तमुर वीरराघवाचार्य मद्रास १९६३,

वेदान्त सूत्र— रामानुज की टीका, अंग्रेजी अनु० थिवौत

महाकाव्य

रामायण— सम्पा० वासुदेव शर्मा, प्रका० पाण्डुरंग जावाबी, बाम्बे—१९३०

रामायण— १० वाल्यूम, हिन्दी अनु० सहित रामनारायण, इलाहाबाद १९५८

महाभारत— ६ वाल्यूम, चित्रशाला प्रेस पूना १९३०

श्रीमद्भागवद्गीता— प्रकाशक पं० दामोदर स्तावलेकर, पुरूषार्थ बोधिनी भाषटीका

श्रीमद्भागवद्गीता— टेक्स्ट विथ शंकराज कमेण्ट्री और हिन्दी अनुवाद गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमद्भागवद्गीता— विथ शंकराज कमेण्ट्री और अंग्रेजी अनु० द्वारा एस० राधाकृष्णन

श्रीमद्भागवद्गीता' विथ रामानुज कमेण्ट्री, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीमद्भागवद्गीता— विथ मधुसूदन कमेण्ट्री, काशी संस्कृत ग्रंथमाला, चौखम्बा वाराणसी १९६२

पुराण

अग्नि पुराण— सम्पादक बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६६

भागवद्पुराण— प्रकाशक कृष्ण शंकर शास्त्री वाराणसी १९६५

भागवद्पुराण— ।। वाल्यूम, हिन्दी अनुवाद सहित गीताप्रेस, गोरखपुर

ब्रह्माण्ड पुराण— कसेभाराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बाम्बे १९१२

मत्स्य पुराण— वेंकटेश्वर प्रेस बाम्बे १८६७

वायु पुराण— गुरूमण्डाला सीरीज, कलकत्ता १९५९

विष्णु पुराण— हिन्दी अनुवाद सहित – गीताप्रेस गोरखपुर वाल्यूम एस० २०१४

विष्णु पुराण— अंग्रेजी अनु० एच०एच० विल्सन पुनर्मुद्रित १९७२

संहिता

अर्हिबुध्न्य संहिता— द्वितीय संस्करण, सम्पादक पं० वी० कृष्णमाचार्य, अड्यार मद्रास

ईश्वर संहिता— सम्पा० द्वारा पी०बी० अनन्तचार्य स्वामी, कांजीवेरम १९२३

जयारूप संहिता— बड़ौदा ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट १९६७

नारद पाञ्चरात्र संहिता— चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९०५

पद्मतंत्र— सम्पा० द्वारा एस० पार्थसारथी आयंगर मैसूर १९१२

परमसंहिता— बड़ौदा ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट १९४०

बौद्ध ग्रन्थ

अंगुत्तर निकाय— ४ वाल्यूमे, सम्पा० द्वारा भिक्षु जगदीश कश्यप, पाली पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा बिहार १९६०

महायान सूत्र संग्रह— सम्पा० पी०एल० वैद्य मिथिला इन्स्टीट्यूट, पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग दरभंगा—१९६१

मज्झिम निकाय ३ वाल्यूम, सम्पा० भिक्षु जे० काश्यप पाली पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा बिहार १९५८

मज्झिम निकाय— हिन्दी अनु० महाबोधि सभा सारनाथ

मज्झिम निकाय— अंग्रेजी अनु० ऐज दि मिडिल लेंग्थ सेइंग द्वारा आई०बी० हार्नर, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, ३ वाल्यूम

मिलिन्दपन्हो— सम्पा० आर०डी० वादेकर, प्रकाशक यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे १९४०

सधर्म पुण्डरीक — अनु० द्वारा एन० दत्त, एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता १९५३

अश्वघोष— *सौन्दरानंद, रॉयल एसियाटिक सोसाइटी १९३९*

भोज— *समरांगण सूत्रधार (जी०ओ०एस०)*

हाल— *गाथा सप्तसती अनु० परमानंद शास्त्री प्रकाशन प्रतिष्ठान मेरठ १९६५*

कालिदास— *रघुवंश सम्पा० जी०आर० नंदरजिकार, मोतीलाल बनारसीदास देलही चौथा एडीसन १९७१*

माधवाचार्य— *शंकरादिग्विजय अनु० बलदेव उपाध्याय ज्ञानमंदिर हरिद्वार वी०एस० २०००*

मधुसूदन सरस्वती— *भगवद्भक्ति रसायन, अनु० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, मोती लाल बनारसीदास, न्यू देलही*

मधुसूदन सरस्वती— *भगवद्भक्ति रसायन, वेद विद्यालय काशी १९५०*

मंडन— *रूपमंडन, सम्पा० बलराम श्रीवास्तव, मोती लाल बनारसीदास वाराणसी १९६४*

पाणिनि— *अष्टाध्यायी, सम्पा०—एस०सी० वसु इलाहाबाद १८९१*

पतंजलि— *व्याकरण महाभाष्य, मोती लाल बनारसीदास देलही १९६७*

रामानुज— *धर्म—संग्रह, तिरूमलाली, तिरूपति देवस्थान प्रेस तिरूपति, १९५१*

रामानुज— *वेदार्थ—संग्रह, सम्पा० और अनुवादक जे०ए०बी० वैन विटेनेन, दकन कालेज इन्स्टीट्यूट आफ पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च पूना १९५६*

शंकराचार्य— *कलेक्टेड राइटिंग्स, 'शंकराग्रन्थावली'* वानी विलास प्रेस

शंकराचार्य— *सौन्दर्य लहरी, अनु० और टीका सुब्रमन्य शास्त्री और श्री निवास आयंगर थियोसॉफिकल पब्लिसिंग हाउस अड्यार १९४८*

शंकराचार्य— *सौन्दर्य लहरी, विथ लक्ष्मीधर कमेंट्री हिन्दुस्तान प्रेस मैसूर १९५३*

एस०एन०राय— *पौराणिक धर्म और समाज, पंचानन पब्लिकेशन १९६८*

जे०एन० बनर्जी— *पौराणिक और तांत्रिक धर्म, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता—१९६६*

पी०वी० काणे— *धर्मशास्त्र का इतिहास, I, II, III, चौथा भाग*

अनु०—अर्जुन चौबे काश्यप, उ०प्र० हिन्दी संस्थान, राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग ,लखनऊ।

देवराज— *भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, प्रकाशक हिन्दुस्तान एकेडमी इलाहाबाद संस्करण १९४१*

सुष्मिता पान्डे— *बर्थ आफ भक्ति इन इण्डियन रेलिजन एण्ड आर्ट १९८२*

<u>कल्याण</u>

कल्याण भक्ति अंक— *महाभारत अंक, रामायण दर्शन अंक I तथा II, गीताप्रेस गोरखपुर*

कल्याण भक्ति अंक *गीताप्रेस गोरखपुर जनवरी १९५२*

कल्याण भक्ति रहस्य— *हिन्दू संस्कृति अंक*

भक्ति अंक— *कल्याण के ३२वें अंक का विशेषांक प्रकाशक गीताप्रेस गोरखपुर संवत २०१४*

:: अंग्रेजी भाषा के ग्रंथ ::

1. Agrawal V.S. : India as known to Panini, University of Lucknow, 1953
2. Agrawal V.S. : Indian Art, Brithivi Prakashan 1965
3. Aurabindo : Essays on Gita, in 2 series, Arya Publishing House, Calcutta, 1949.
4. Banerjee J.N. : Pauranic and Tantric Religion, University of Calcutta 1966.
5. Banerjee J.N. : Religion in Art and Archaelogy, University of Lucknow, 1968.
6. Banerjee P. : Early Indian Religions, Vikas Publishing House, 1973.
7. Bhandarkar R.G. : Vaisnavism, Saivism and other Minor Religious Sects. Reprint Indological Book House Varanasi 1965
8. Bargava, P.L. : India in the Vedic Age, The Upper India Publishing House Lucknow - 1956.
9. Chattopadhyay. K : Allahabad University Studies.
10. Dasgupta S.N. : History of Indian Philosophy, in 3 volms. Cambridge University Press.
11. Deshmukh. P.S. : Religion of Vedic Literature, Bombay 1933.
12. Dikshitar : Studies in Tamil Literature, Madras 1942
13. Gonda. J. : Visnuism and Saivism, London , 1970
14. Gonda, J. : Aspects of Early Vishuism, second edn, Motilal Banarsidas, Delhi - 1969.
15. Griswold , H.J. : The Religion of the Rigveda, Motilal Banarasidas, Delhi- 1971
16. Hazra R.C. : Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs, Dacca, 1940.
17. Jaiswal, Suvira : Origion and Development of Vaisnavism, Munshiram Manorharlal Delhi, 1967.
18. Kantawala, S.G. : Cultural History from the Matsya Purana, Maharaja Sayajirao University, Baroda 1964.
19. Karmarkar A.P. : The religion of India, Lonavla, India 1950.
20. Kaviraj, M.M. : Aspects of Indian thought University of Burdwan 1966
21. Gopinath
22. Macdonell A.A. : Vedic Mythology, Indological Book House, Varanasi 1963
23. Majumdar R.C. : The classical Age. Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.
24. Max Muller : India : What can it teach us ? tr. by Kamalakar Tiwari & Ramesh Tiwari Adarsh Hindi Pustakalaya, Allahabad 1967

25. Pustalkar A.D. : Studies in the Epics and Puranas. Bhartiya Vidya Bhavan Bombay 1955.
26. Radhakrishnan S.: The Bhagavadgita, George Allen & Unvin Ltd. London 1949.
27. Raychoudhari, H.C.: Materials for the study of the Early history of the Varisnava sect, second edn. Calcutta 1936.
28. Sankalia H.D. : Ramayan, Myth or reality, People's publishing house. New Delhi 1973.
29. Sircar D.C. : Studies in the Religious life of Ancient and Medieval India 1971
30. Tripathi K.S. : Cultural study of the Srimad Bhagavad Gita ed by S. Bhattacharya B.H.U. Publication, Varanasi 1969.
31. Upadhyaya, Baldev: Bhagavat Sampradaya Kashi Nagari Pracharni Sabha, V.S. 2010
32. Winternitz : History of Indian Literature, Calcutta 1927.

Journals :

1. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Bomaby.
2. Journal of Bihar and Orissa Research Society, Bihar.
3. Journals of the Indian Society of Oriental Art, Calcutta.
4. Journals of sri Venkatesvara Oriental Institute, Tirupati.
5. Journals of Royal Asiatic Society, Great Britain and Ireland.
6. Proceedings of the Second Oriental Conference, Calcutta.
7. Proceedings of the Indian History Congress, Madras.
8. Proceedings of All India Oriental Conference.
9. The Journal of the Uttar Pradesh Historical Society, Lucknow.
10. Puranam.